विश्वप्रपंच

लेखक

रामचंद्र शुक्ल

१९७७

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस में मुद्रित

मूल्य

विषय-सूची।

विषच		पृष्ठ.

वक्तव्य ।

आज जर्मनी के जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकल की परम प्रसिद्ध पुस्तक Riddle of the Universe हिंदी पढ़नेवालो के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत ग्रंथ है। इसमे नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हे भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ योरप मे इसकी धूम सी मच गई। अकेले जर्मनी में दो महीने के भीतर इसकी ९००० प्रतियाँ खप गई। योरप की सब भाषाओ मे इसके अनुवाद निकले। अँगरेजी की तो लाखों कापियाँ पृथ्वी के एक कोने से ले कर दूसरे कोने तक पहुँच गईं। इस पुस्तक ने सब से अधिक खलबली पादरियो के बीच डाली जिनकी गालियो से भरी हुई सैकड़ो पुस्तके इसके प्रतिवाद मे निकलीं।

पुस्तक में आधुनिक दर्शन और विज्ञान से संबंध रखनेवाली जिन जिन बातों का उल्लेख है उन सब की थोड़ी बहुत चर्चा भूमिका मे इस लिये कर दी गई है जिसमे अभिप्राय समझने मे सुबीता हो। पुस्तक के भीतर भी स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं।

भाषा के संबंध मे इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसे केवल हिंदी या संस्कृत जाननेवाले भी अपनी विचार-पद्धति के प्रायः अनुरूप पाएँगे। कौन सा वाक्य किस अँगरेजी वाक्य का अक्षरशः अनुवाद है इसका पता लगाने की ज़रूरत किसी को न होगी।

रामचन्द्र शुक्ल।

भूमिका ।

गत शताब्दी मे योरप मे ज्यो ज्यो भौतिक विज्ञान, रसायन, भूगर्भविद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान इत्यादि के अतर्गत नई नई बातो का पता लगने लगा और नए नए सिद्धात स्थिर होने लगे त्यो त्यो जगत् के संबंध मे लोगो की जो भावनाएँ थीं वे बदलने लगीं। जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर उसे ईश्वर की कृति मान सतोष कर लेते थे वहाँ चारो ओर नाना विज्ञानो * के द्वारा

---

* विज्ञान ऐसे विषयों का ज्ञान है जो किसी न किसी प्रकार हमारी इद्रियो को प्रत्यक्ष होते है। यह शब्द हमारे शास्त्रो मे कई अर्थो मे आया है। बौद्ध लोग विज्ञान का अर्थ प्रत्यय या भाव लेते है जो क्षण क्षण पर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। गीता मे ज्ञान और विज्ञान शब्द कई जगह साथ साथ आए है। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिद वक्ष्याम्यशेषत." अर्थात् 'विज्ञान' समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझसे कहता हूँ। रामानुज ने अपने भाष्य मे 'ज्ञानम्' का अर्थ किया है "मद्विषयमिदं ज्ञानम्" और विज्ञानम् का अर्थ किया है "विविक्ताकार विषयज्ञानम्।" प्रकृति के नाना रूपो का जो ज्ञान है वही विज्ञान है। आगे चल कर भगवान् ने मन, बुद्धि और अहंकार के सहित पाँचों भूतों को गिना कर कहा है कि यह मेरी अपरा प्रकृति है इससे भिन्न जगत् को धारण करनेवाली जीवस्वरूपिणी मेरी परा प्रकृति है। इसी अपरा

यंत्रो की सहायता से हमारी दृष्टि अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म हो गई। दूरदर्शक यंत्रों द्वारा अंतरिक्ष के बीच अनंत लोक-पिंडो का पता लगा, उनकी स्थिति के क्रम का आभास मिला और रश्मिविश्लेषक यंत्र द्वारा यह प्रत्यक्ष हो गया कि जिन मूलभूतो या द्रव्यो से हमारी पृथ्वी बनी है उन्ही द्रव्यो से सब लोकपिंड बने हैं, उनमे कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। पहले पृथ्वी, जल, वायु आदि के आगे लोगो की दृष्टि नहीं जाती थी अब रसायन शास्त्र के विश्लेषणो द्वारा जल और वायु आदि की योजना करनवाले मूलभूतों या द्रव्यो तक हमारी पहुँच हो गई है। भौतिक विज्ञान ने समस्त जड़ जगत् को द्रव्य और गति शक्ति का कार्य्य सिद्ध कर दिया है।

द्रव्य * को नाना रूपो मे हम अपने चारो ओर देखते हैं। हवा, पानी, पत्थर, पृथ्वी, सूर्य्य, चद्र इत्यादि सब द्रव्य के ही भिन्न भिन्न रूप है। द्रव्य मे हम गति भी देखते है। हवा का चलना, पानी का बहना, पत्थर का लुढ़कना, पत्ते का

के वायुमंडल में चाँदी, लोहा, सीसा, राँगा, जस्ता, अलुमीनम, सोडियम, पोटासियम, कारबन (अगारक), हाइड्रोजन आदि ३६ मूल द्रव्यों का होना स्थिर किया गया है। इसी प्रकार ग्रहों क संबंध में समझिए जो सूर्य्य की अपेक्षा कहीं अधिक निकट है।

* द्रव्य शब्द का अर्थ केवल भूत-समष्टि के अर्थ मे समझिए। वैशेषिक में द्रव्य के अतर्गत काल, दिक्, आत्मा और मन भी हैं, पर इसके अंतर्गत नहीं।

गिरना, लपेटी हुई कमानी का खुलना, कोयले का दहकना, बारूद का भड़कना सब गति के ही नाना रूप है। द्रव्य और गतिशक्ति इन्ही दो को लेकर अपनी सूक्ष्म परीक्षाओं द्वारा वैज्ञानिक समस्त व्यापारो के कारण आदि की व्याख्या करते है। जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे—ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वायव्य से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था मे—लाया जा सकता है उसी प्रकार गतिशक्ति भी एक रूप से दूसरे रूप मे लाई जा सकती है। गति ताप के रूप मे परिवर्त्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप मे, विद्युत ताप और प्रकाश के रूप में। राँगे और ताँबे को जोड़ कर अगर एक कोना गरम करे और दूसरे को ठंढा रखे तो बिजली पैदा हो जायगी। चकमक के क्षेत्र मे किसी धातु को घुमाने से भी बिजली उत्पन्न होती है। यदि बडे वेग से आते हुए पत्थर के गोले को हम दूसरे पत्थर से बीच ही में रोक ले तो पहले पत्थर की गति-शक्ति रुकने से क्या हुई ? क्या नष्ट हो गई ? नही, वह ताप के रूप मे परिवर्त्तित हो गई। दो वस्तुओ की रगड़ से जो गरमी पैदा होती है उसका अनुभव हमे नित्य होता है। इस गरमी के पैदा होने का मतलब यही है कि रगड़ की जो गति है उसने ताप का रूप धारण कर लिया। कोई शक्ति क्रियमाण हो कर एक द्रव्यखंड से दूसरे खंड मे जाते जाते अत मे ताप के रूप मे हो कर आकाश द्रव्य मे लय को प्राप्त हो जाती है।

शक्ति या तो निहित वा अव्यक्त रूप मे रहती है अथवा व्यक्त वा क्रियमाण रूप मे। दोनों छोर मिला कर पकड़े हुए

बेत, पहाड़ की ढाल पर अड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, सूखने के लिये फैलाए हुए कोयले, घोरे मे कसी हुई बारूद मे जो छटकने, चलने, दहकने और भड़कने की शक्ति है वह अव्यक्त वा निहित है। बेत के छटकने, पत्थर के लुढ़कने, घडी के चलने, कोयले के दहकने और बारूद के भड़कने पर वही शक्ति व्यक्त वा क्रियमाण कहलावेगी । गति-शक्ति दो प्रकार की क्रियाएँ करती है। यह द्रव्य के पिंडो, अणुओ और परमाणुओ को एक दूसरे की ओर खींचती है अथवा उनको एक दूसरे से हटा कर अलग अलग करती है। पिंडो की एक दूसरे को खींचने की शक्ति लोहे और चुंबक तथा सूर्य्य और ग्रहपिंडों आदि के आकर्षण में देखी जाती है । अणुओ के परस्पर मिलने से पिड, परमाणुओ के परस्पर मिलने से अणु, और विद्युदणुओ के परस्पर मिलने से परमाणु बनते है। इसी प्रकार जहाँ ठोस वस्तु द्रव के रूप मे आ रही हो, या द्रव वस्तु वाष्प या वायव्य रूप मे आ रही हो वहाँ यह समझना चाहिए कि विश्लेषण-शक्ति अर्थात् अलग करने वाली शक्ति कार्य्य कर रही है। शक्ति के संबंध मे यह समझ रखना चाहिए कि यद्यपि द्रव्य के समान उसमे गुरुत्व नहीं होता पर उसके वेग की मात्रा का हिसाब होता है। सेर भर पत्थर उठाने मे जितनी शक्ति लगती है दो सेर बोझ उठाने मे उससे दूनी शक्ति लगेगी। चलती हुई वस्तुओ का धीमा और तेज होना, गरमी का घटना बढना हम नित्य ही देखते है।

द्रव्य के अंतगत कोई ७८ मूलद्रव्य या मूलभूत माने गए

हैं जिनमे कुछ धातुएँ हैं (सोना, चांदी, ताँबा, लोहा सीसा, राँगा, पारा, निकल, जस्ता, अलुमीनम), कुछ और खानिज है (जैसे, गंधक, संखिया, सुरमा, मगनीशिया) और कुछ वायव्य द्रव्य हैं (जैसे, आक्सिजन, हाइड्रोजिन, नाइट्रोजन इत्यादि) । ये ही ७८ मूल द्रव्य आधुनिक रसायन शास्त्र के अनुसार मूल उपादान हैं जिनके परमाणुओ के योग से जगत के नाना प्रकार के पदार्थ बने है । अत जितने ये मूल द्रव्य है उतने ही प्रकार के परमाणु हुए । एक प्रकार के परमाणु के साथ दूसरे प्रकार के परमाणु के मिलने से एक तीसरे रूप के द्रव्य का प्रादुर्भाव होता है—जैसे आक्सिजन और हाइ-ड्रोजन नामक मूल द्रव्यों के परमाणुओ के योग से जल की उत्पत्ति होती है । पर ध्यान रखना चाहिए कि यह परिणाम एक विशिष्ट मात्रा मे परमाणुओ के मिलने से होता है । जैसे जल का यदि हम रासायनिक विश्लेषण करे तो उसमे हमे १६ भाग आक्सिजन गैस और २ भाग हाइड्रोजन गैस * मिलेगा। इसी प्रकार यदि हम नमक का विश्लेषण करे तो हमे ३५½ भाग क्लोराइन और २३ भाग सोडियम मिलेगा । परमाणुओ का मिश्रण ही रासायनिक मिश्रण कहलाता है । † परमाणुओ

---

* जस्ते को तेजाब में गला कर यह गैस निकाला जा सकता है।

† साधारण मिश्रण से रासायनिक मिश्रण भिन्न होता है । साधारण मिश्रण में दो पदार्थों के अणु ही देखने में मिले मालूम होते है, पर दोनों पदार्थ अलग अलग पहचाने जा सकते हैं । पर रासायानिक मिश्रण में एक के अणुओं के परमाणु निकल निकल कर

के मिलने से ही रासायनिक क्रिया होती है। भिन्न भिन्न परमाणुओं की भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है जिसके अनुसार कुछ परमाणु कुछ परमाणुओं के साथ मिलते हैं और कुछ के साथ नहीं। इसी को रासायनिक प्रवृत्ति या राग कहते हैं।

परमाणु हैं क्या ? नमक का एक टुकडा लीजिए और देखिए तो वह अत्यंत सूक्ष्म कणों से मिलकर बना हुआ पाया जायगा। इन कणों के तब तक और टुकड़े करते जाइए जब तक टुकड़ों में नमकपन बना रहे। इस प्रकार जब टुकड़े अंतिम दशा को पहुँच जायँ अर्थात् ऐसे टुकड़े हो जायँ जिनके और टुकड़े करने से उनमें नमक का गुण न रह जायगा तब हम ऐसे टुकडों को अणु कहेंगे। ये अणु नमक ही रहेंगे। फिर इन अणुओं के भी यदि हम और टुकड़े करेंगे तो वे परमाणु होंगे और नमक न रह जायँगे अर्थात् उनमें से कुछ क्लोराइन के परमाणु होंगे और कुछ सोडियम के। इसी से कहा जाता है कि क्लोराइन और सोडियम के रासायनिक मिश्रण से—अर्थात् परमाणुओं के मिश्रण से—नमक बनता है। अतः नमक एक यौगिक पदार्थ है, मूल-

---

दूसरे के अणुओं के निकले हुए परमाणुओं से मिल जाते हैं जिस से एक तीसरे पदार्थ की उत्पत्ति होती है। जैसे, गंधक के चूर्ण के साथ लोहचूर मिला कर यों ही रख दें तो यह साधारण मिश्रण होगा। इसी मिश्रण को यदि खूब तपावें जिससे अणु टूट जायँ और परमाणु अलग अलग होजायँ तो दोनों के परमाणुओं के मिलने से एक नए प्रकार के पदार्थ की उत्पत्ति होगी। यह मिश्रण रासायनिक होगा।

द्रव्य नही। पर यदि हम मूल द्रव्यो मे से कोई एक लेकर उसका परमाणुओ तक विश्लेषण करे तो हमे उसी द्रव्य के परमाणु मिलेगे और किसी द्रव्य के नही। एक मूल द्रव्य के साथ दूसरे मूल द्रव्य किस प्रकार और किस परिमाण मे मिलते है तथा मिलने से क्या परिणाम होते है इन सब बातो का विचार करनेवाला शास्त्र रसायनशास्त्र कहलाता है। भौतिक विज्ञान द्रव्य के सामान्य गुण तथा गतिशक्ति के नियमो और विधानो का निरूपण करता है। इस प्रकार आजकल प्राकृतिक विज्ञान की दो प्रधान शाखाएँ है।

परमाणु नाम पडा क्यो ? पहले लोगो की धारणा थी कि परमाणु द्रव्य के सूक्ष्मत्व की चरम सीमा है। परमाणु के और टुकडे हो ही नही सकते । परमाणु अखड तथा नित्य है। दार्शनिको ने तो परमाणु की कल्पना अनवस्था से बचने के लिए ही की थी। पहले लोगो को परमाणुओ के बनने विगड़ने या खड खड होने के प्रमाण नही मिले थे। पर इधर युरेनियम, रेडियम आदि कई नए मूल द्रव्यो के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए। उनके परमाणुओ की परीक्षा से पता चला कि भारी परमाणु के कण अत्यत वेग से उड़ते जाते हैं और फिर मिलकर हलके परमाणु बनाते जाते हैं। ये कण विद्युदणु कहलाते है। इन्ही के मिलने से परमाणुओ की योजना होती है।

मूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन मे भी हुई है। द्रव्यखड के टुकड़े करते करते हम ऐसे टुकड़ो तक पहुँचेगे जिनके और टुकडे

यदि हम करे तो वे अगोचर हो जायँगे। ये ही अगोचर टुकड़े परमाणु होगे और इनके और टुकड़े न हो सकेंगे। वैशेपिक के अनुसार परमाणु नित्य और अक्षर है। इन्ही की योजना से सब पदार्थ बनते है और सृष्टि होती है। आकाश को छोड़ जितने प्रकार के भूत होते है उतने ही प्रकार के परमाणु होते है—यथा, पृथ्वीपरमाणु, जलपरमाणु, तेज परमाणु और वायुपरमाणु। परमाणु रूप मे, आकाश के समान, शेप चारो भूत भी नित्य हैं। आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी, जल और वायु को द्रव्य का अवस्थाभेद सिद्ध किया और तेज को गतिशक्ति का एक रूप मात्र। अतः परमाणु भी चार प्रकार के नहीं, ७८ प्रकार के ठहराए गए। कुछ लोग नई बातो के साथ पुरानी बातो का अविरोध सिद्ध करने के लिये भूतो को ठोस, द्रव, वायव्य और अतिवायव्य अवस्थाओ के सूचक मात्र कहने लगे है। पर परमाणुओ के वर्गीकरण की ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो सकता है कि वैशेपिक का अभिप्राय अवस्थाभेद नही है गुणभेद के अनुसार द्रव्यभेद ही है—जैसे, जल मे सांसिद्धिक या स्वाभाविक द्रवत्त्व का गुण है अत वह एक मूल द्रव्य है। पर आधुनिक रसायन शास्त्र ने जल को किस प्रकार यौगिक सिद्ध किया है यह ऊपर कहा जा चुका है। मूलभूतो और परमाणुओ का संबध वैशेपिक ने इसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायनशास्त्र ने किया है। यह हमारे लिये कम गौरव की बात नहीं है। ब्योरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की जरूरत नहीं।

वैशेषिक में दो परमाणुओ के योग को द्व्यणुक कहते हैं। आगे चल कर ये ही द्व्यणुक अधिक सख्या मे मिलते जाते है जिससे नाना प्रकार के पदार्थ बनते है—जैसे, तीन द्व्यणुको से त्रसरेणु, चार द्व्यणुको से चतुरणुक इत्यादि। कारण-गुणपूर्वक ही कार्य्य के गुण होते हैं अत जिस गुण के परमाणु होगे उसी गुण के उनसे बने पदार्थ होंगे। पदार्थों मे जो नाना भेद दिखाइ पड़ते हैं वे सन्निवेश भेद से होते हैं। तेज के सबध से वस्तुओं के गुण मे बहुत कुछ फेरफार हो जाता है—जैसे, कच्चा घड़ा पकने पर लाल हो जाता है।

परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए, अणुओ की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्मदर्शक यन्त्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्य्यों द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इच के ५०००,०००,०० वें भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की योजना करने वाले परमाणुओ की सूक्ष्मता का इसी से अंदाजा कर लीजिए। विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म है। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु मे १६०००, और रेडियम के एक परमाणु में १६०००० विद्युदणु होते हैं। इन विद्युदणुओ के बीच का अतर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब से बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौरजगत् के ग्रहों के बीच होता है। * अपने परमाणु-जगत् के अतरिक्ष मे ये परस्पर शक्ति

---

* परमाणुओ के बीच अतर की धारणा न होने के कारण

सम्बद्ध हो कर निरतर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते है जिस प्रकार सौरजगत् मे ग्रह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है भवचक्र। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है जो ब्रह्मांड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए। जो गतिशक्ति आकर्षण और अपसारण के रूप मे छोटे से द्रव्यखड के परमाणुओ को परस्पर सम्बद्ध रख कर भ्रमण कराती है वही समस्त जगत् मे नक्षत्रो, ग्रहों और उपग्रहो को अपने पथ पर रख कर चक्कर खिलाती है। शक्ति की इसी दोमुही चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति अपने एक ही रूप मे कार्य्य करती तो जगत् की यह अनेकरूपता न रहती, या यों कहिये कि जगत् ही न रहता। यदि आकर्पणक्रिया ही स्वतंत्र रूप से चलती, उसे बाधा देनेवाली अपसारिणी क्रिया न होती तो अखिल विश्व के समस्त परमाणु खिच कर एक केंद्र पर मिल जाते और विश्व एक ऐसा अचल, जड़ और ठोस गोला होता जिस पर न नाना प्रकार के पदार्थ होते, न जीवजतु और पेड़ पौधे होते और न कोई व्यापार होता। इसी प्रकार यदि केवल अपसारिणी

वैशेषिकों को 'पीलुपाक' नाम का विलक्षण मत ग्रहण करना पड़ा। इस मत के अनुसार घड़ा आग में पड़ कर लाल इस प्रकार होता है कि अग्नि के तेज से घडे के परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, फिर लाल होकर मिल जाते है। घड़े का यह बिगड़ना और बनना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि कोई देख नहीं सकता। न्याय वाले परमाणुओ के बीच अन्तर मान कर ऐसी कल्पना नहीं करते।

क्रिया ही होती तो विश्व के समस्त परमाणु अलग अलग बिखरे होते, मिल कर जगत् की योजना न करते।

द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य संबंध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य्य कर सकती है। अपने चारो ओर जो कुछ हम देखते है वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य्य है। कोई द्रव्य-खड लीजिए, शक्ति ही से उसकी स्थिति ठहरेगी। जमीन पर पडा हुआ एक ढेला ही लीजिए। आप के देखने मे तो वह महा जड और निष्क्रिय है। पर विचार कर देखिए तो गतिशक्ति की क्रिया बराबर उसमे हो रही है, बल्कि यो कहिए कि उसी क्रिया से ही उसकी स्थिति है। वह जमीन पर पड़ा क्यो है? पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से। वह ढेले के रूप मे क्यो है? उसके अणु आकर्षण-शक्ति द्वारा परस्पर सवद्ध है।

द्रव्य और शक्ति दोनो अक्षर और अविनाशी है। वे अपने एक रूप से दूसरे रूप मे जा सकते है, पर नष्ट नहीं हो सकते। उनका अभाव नही हो सकता। सिद्धांत यह कि विश्व मे जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है, और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न वढ़ सकता है। इसी प्रकार शक्ति को भी समझिए जो द्रव्य मे समवेत है। यह दार्शनिक अनुमान नहीं है, परीक्षा सिद्ध सत्य है। मोम-वत्ती जल कर नष्ट नही हो जाती, धुएँ के रूप मे अर्थात् वायव्य रूप मे हो जाती है। यदि इस वायव्य पदार्थ को

लेकर हम तौले तो उसकी तौल मोमबत्ती की तौल के बराबर होगी। शक्ति की अक्षरता की परीक्षा इस प्रकार हो सकती है कि किसी बोझ के उठाने मे हम कुछ शक्ति व्यय करे और उस शक्ति को ताप के रूप मे लाकर ताप की मात्रा नाप ले। फिर कभी उसी बोझ को उठाने मे उतनी ही शक्ति लगा कर और उसे ताप के रूप मे परिवर्त्तित कर के ताप की मात्रा नापे। ताप की दोनो मात्राएं समान होगी।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी एक दूसरे को आकर्षित कर रहे है और ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि विशाल लोकपिंड भी। उनके बीच आकर्षण शक्ति बराबर कार्य्य कर रही है। ग्रहो, नक्षत्रो आदि के बीच जो भारी अंतर है वह प्रत्यक्ष ही है। अणुओ, परमाणुओ आदि के बीच कितना अतर रहता है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। यह अंतर क्या शून्य है? यदि शून्य है तो आकर्षण-शक्ति की क्रिया होती किस प्रकार है? क्योकि ऊपर कहा जा चुका है कि द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य्य ही नही कर सकती। न्यूटन भी, जिसने योरप मे पहले पहल आकर्षण शक्ति का पता पाया था, इस असमंजस मे पड़ा था। अतरिक्ष के बीच केवल आकर्षणशक्ति कार्य्य करती हो सो भी नहीं। सूर्य्य की गरमी और सूर्य्य का प्रकाश बराबर हम तक पहुँचता है। ताप और प्रकाश भी गति-शक्ति के ही रूप हैं। अतः क्या ये भी शून्य से ही हो कर गमन करते है। यह हो नही सकता। शक्ति के कार्य्य करने के लिए कोई मध्यस्थ द्रव्य अवश्य चाहिए। इस लिए वैज्ञानिकों को द्रव्य के ऐसे रूप

का आरोप करना पड़ा जो अखंड, अनंत, विभु और विश्व-व्यापक हो, जो अण्वात्मक न हो। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अखंड और व्यापक द्रव्य का नाम उन्होंने ईथर रखा। आप आकाश द्रव्य कह लीजिए * क्योकि प्रकाश के साथ इसका घनिष्ट संबंध है भी। यह सीसे के गोले के परमाणुओ के बीच भी फैला है और ग्रहो नक्षत्रो के बीच के अंतरिक्ष मे भी। इससे खाली कोई जगह नहीं। यह सर्वत्र अखड और एकरस है।

ईथर को दिक् के समान एक शून्य-कल्पना न समझना चाहिए। इसमे घनत्व है, यह भूतद्रव्य का ही एक सूक्ष्म रूप है। वैज्ञानिको ने हिसाब लगाया है कि इसका घनत्व

---

* वैशेषिक ने आकाश को दिक् (Space) से अलग माना है और उसे भूतों के अतर्गत किया है। दिक् कि ी वस्तु का समवायिकारण नहीं हो सकता, पर आकाश शब्द का समवायि कारण है। न्याय मे उपादान् को ही समवायि कारण कहा है, जैसे कपडे के लिये सूत और कुडल क लिये सोना। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी कहा है कि द्रव्यों मे जो समवाय रहता है वह तादात्म्य रूप से ही। अत. "आकाश शब्द का समवायि कारण है" इस बात को यदि आधुनिक भौतक विज्ञान के शब्दों मे कहें तो कह सकते है कि 'आकाश द्रव्य की तरंगों से ही शब्द बनते हैं'। आधुनिक भौतिक विज्ञान में शब्द वायुतरंग रूप-सिद्ध हुए है, क्योंकि आकाश के रहते भी वायु के बिना शब्द नहीं होता। आकाशद्रव्य के तरगों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। आजकल की इस बात को यदि हम अपने दर्शन के शब्दो मे कहे तो कह सकते है कि 'आकाश प्रकाश का समवायिकारण है'

जल के घनत्व का $\frac{\text{१[illegible]६}}{\text{१०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००}}$ है। १०५ कोस की ऊँचाई पर वायुमंडल भी इतना ही पतला है। उसके आगे वह और भी पतला है *। ईथर उसकी अपेक्षा कम पतला है। यह सारा हिसाब किताब ऊपर ही ऊपर से—प्रकाश और ताप के व्यापार से—लगाया गया है। ईथर पकड़ मे आनेवाला द्रव्य नहीं, यह एक अग्राह्य पदार्थ है। वैज्ञानिको ने इसकी परीक्षा केवल प्रकाश के वाहक के रूप मे की है। प्रकाश और ताप का प्रवाह तरंगो के रूप मे चलता है। यदि कोई मध्यस्थ नही तो ये तरगे कैसी ? विद्युदाकर्षण और अपसारण की व्याख्या भी इस प्रकार के मध्यवर्त्ती द्रव्य के बीच किसी स्थान पर दबाव मानने से ही अच्छी तरह होती है। विद्युत्प्रवाह की समस्या का समाधान भी मध्यस्थ द्रव्य का स्पंदन माने बिना ठीक ठीक नही हो सकता। चुंबक की क्रिया भी किसी मध्यस्थ द्रव्य मे भँवर या मरोड़ पड़ने के कारण मालूम होती है। साराश यह कि यह मानना पडता है कि प्रकाश और ताप आदि का वहन करनेवाला कोई एकरस प्रवाहरूप पदार्थ अवश्य है जिसमे तरंगे उठती है, भँवर पड़ते है। जिस प्रकार जल मे किसी ठोस पदार्थ के पड़ने पर किनारे हटने और फिर आ जाने का गुण है उसी प्रकार ईथर मे भी है। पर यह साधर्म्य होते हुए भी जल मे और इसमे

---

* पृथ्वी से १२ योजन के आगे जो वायु है उसका हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रथो मे 'प्रवह' नाम है। १२ योजन तक 'आवह' वायु है।

है, यह अखड और सर्वगत है।
रे इसके गुण भिन्न है। यद्यपि
रे इसके गुण प्रकाश और ताप
त हुए हैं पर यह है किस प्रकार
मे नहीं आया है, आगे की नहीं

श्वर को जगत का उपादान ठह-
र ग्राह्य द्रव्यखंड इसी ईथर के
ाम कुक्स ने भी सब प्रकार के
ारभूत एक ही महाभूत माना
है। इस प्रकार जगत् के मूल
वेज्ञान मे स्वीकृत हुई। हैकल ने
लिया है उसके अनुसार ईथर
महाभूत की साम्यावस्था के प्रथम भग का परिणाम है अर्थात्
साम्यावस्था भंग होने पर कुछ द्रव्य तो अण्वात्मक ग्राह्य रूप
मे आ जाता है और शेष कुछ और सूक्ष्म हो कर अपने
अग्राह्य और अखड रूप मे ही रहता है जिसे ईथर कहते है।
पर किस प्रकार ईथर मे भॅवर पड़ते है और पहले पहल
अणुओ का विधान होता है, किस प्रकार एक निर्विशेष महा-

❀ तैत्तिरीयोपनिषद् मे भी परमात्मा से पहले पहल आकाश की उत्पत्ति कही गई है, फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। "आकाशाद्वायु, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथिवी"।

भूत विशेषत्व की ओर प्रवृत्त होता है, किस प्रकार प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। यह एक समस्या रह सी जाती है। रहने दीजिए, यह औरों के काम की है।

विज्ञान की दृष्टि से जगत की उत्पत्ति इस प्रकार निरूपित हुई है। अपनी साम्यावस्था भंग होने के पीछे द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म नीहारिका के रूप में बहुत दूर तक फैला रहा। संयोजक शक्ति द्वारा द्रव्य-विस्तार के अणु खिंच कर परस्पर मिलने लगे जिनसे संचित वियोजक या अपसारिणी शक्ति छूट पड़ी और दो रूपों में व्यक्त हो कर कार्य्य करने लगी—अणुचालक और पिण्डचालक। अणुचालक गति द्वारा अणुओं में एक प्रकार का स्पंदन या दोलन सा होने लगा; यह गति ताप और प्रकाश के रूप में व्यक्त हो कर फैली। पिण्डचालक गति द्वारा अणुओं से बने हुए पिंड लट्टू की तरह घूमते हुए गोल परिधि या मंडल बाँध कर चक्कर लगाने लगे। इसी प्रकार नक्षत्रों, ग्रहों, उपग्रहों आदि की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। सौरजगत् की उत्पत्ति का विधान इसी रूप में निश्चित किया गया है। उस विधान को अब अपने सौर जगत् पर घटा कर देखिए कि नीहारिकामंडल से सूर्य और नाना ग्रहों उपग्रहों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

ज्योतिष्क नीहारिका-मंडल पहले अत्यंत वेग से घूमता हुआ गोला था। अणुओं के केंद्र की ओर आकर्षित होने से वह क्रमशः भीतर की ओर सिमट कर जमने लगा जिससे उसके किनारे घूमते हुए नीहारिका के वलय या छल्ले रह गए।

केंद्र की ओर सिमटा हुआ द्रव्य हमारा सूर्य हुआ। नीहारिका-वलय भी क्रमशः जम कर गोलों के रूप में हुए और केंद्रस्थ-द्रव्य (सूर्य) से अलग हो कर उसके चारो ओर वेग से घूमने लगे। ये ही पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हुए। इनके जमने पर भी किनारे छल्ले रह गए जो क्रमशः जम कर इन ग्रहों के उपग्रह हुए—जैसा कि चंद्रमा हमारी पृथ्वी का है। जो छल्ला केंद्रस्थ द्रव्य से जितनी दूरी पर था उससे जम कर बना हुआ पिंड उतनी ही दूरी पर से उसकी परिक्रमा करने लगा। जिस ग्रह के किनारे जितने छल्ले थे उसके उतने ही चंद्रमा हुए। जैसे, बृहस्पति की परिक्रमा करनेवाले आठ चंद्रमा हैं। जितने ग्रह हैं सब एक अवस्था मे नहीं है। ग्रहपिंड केंद्रस्थ द्रव्य-समूह या सूर्य से छूट कर अलग होने पर ज्वलंत वायव्य अवस्था से जम कर अपरिमित ताप से युक्त ज्वलंत द्रव द्रव्य (जैसे, गरमी से पिघल कर पानी से भी पतला हो कर बहता हुआ लाल लोहा) के रूप में हुए। क्रमशः उनका ऊपरी तल ठंढा हो कर जमता गया और ठोस पपड़ी के रूप मे होता गया। जो ग्रह जमते जमते सारा ठोस हो गया अर्थात् जिसकी सब गरमी निकल गई वह मुर्दा हो गया, उसमे, जल, वायु आदि कुछ नहीं रह गया। हमारा चद्रमा इसी अवस्था मे है। पृथ्वी का ऊपरी तल तो ठोस पपड़ी के रूप मे होगया है, पर बहुत गहराई तक नहीं। इसके भीतर वही ज्वलंत द्रव द्रव्य मौजूद है जो अपना अस्तित्व ज्वालामुखी के स्फोट और भूकंप आदि द्वारा प्रकट करता रहता है। बृहस्पति अभी ज्वलंत द्रव अवस्था से क्रमशः जमना आरंभ

कर रहा है। मंगल पृथ्वी से भी अधिक जम कर ठोस हो चुका है। शनि और वृहस्पति दोनों अब तक वलयवेष्ठित है। ये सब बाते तो अच्छे अच्छे दूरवीक्षण-यंत्रो की सहायता से ही देखी जा सकती हैं। पर रगो के हिसाब से भी तारो और ग्रहो की अवस्था का मोटा अंदाज हो सकता है। जो ग्रह काला और कांतिहीन दिखाई दे उसे समझना चाहिए कि मर चुका है। फिर जब किसी और तारे से वह टक्कर खायगा तब उसमे नए तेज और नई शक्ति का संचार होगा और दूसरे लोकपिंड की सृष्टि होगी। ज्वलत नीलाभ ग्रहों को पूर्ण यौवनावस्था में समझना चाहिए। कुछ विशेषताओ से युक्त लाल तारो को समझना चाहिए कि वे क्रमशः नाश को प्राप्त हो रहे है। जो ज्वालाखंड जितना ही बड़ा था उसके ऊपरी तल के ठंढे होकर द्रवरूप मे आने और फिर और जमकर ठोस होने मे उतना ही अधिक काल लगा है। अभी हमारा सूर्य्य वायव्य और द्रव अवस्था मे ही है। भीतर तो वह जलती हुई वायु अर्थात् ज्वाला या लपट के रूप में है जिसके प्रचड ताप का अनुमान तक हम लोग नहीं कर सकते, पर उसके ऊपर का तल कुछ गरमी निकल जाने से जम कर वायव्य से ज्वलंत द्रव द्रव्य के रूप मे आगया है।

पृथ्वी का यह ठोस तल जिस पर हमलोग बसते हैं धीरे धीरे परत पर परत जमने से कई करोड़ वर्षों मे बना है। इन परतो का जमना उस कल्प से आरंभ हुआ है जिस कल्प में पृथ्वी की पपड़ी इतनी ठंढी पड़ गई कि उसके ऊपर

भाप की जो गहरी तह चढ़ी थी (जैसी कि वृहस्पति मे अब तक दिखाई देती है) वह जमी और जल का आविर्भाव हुआ, समुद्रों की सृष्टि हुई। नदियो का जल किस प्रकार पहाड़ो और ऊँचे स्थानो की मिट्टी या चट्टानो को काट काट कर अपने मार्ग मे इधर उधर रेत और मिट्टी की तह पर तह जमाता जाता है इसे प्रायः सब लोग जानते है। समुद्र भी सदा इसी व्यापार मे लगा रहता है और अपने तटों की मिट्टी या चट्टानो को काट काट कर अपने गर्भ मे बिछाता जाता है। सारांश यह कि जल का यह कार्य्य ही है। आदि काल से ही वह ऊँचे स्थानो की चट्टानो को रेत, मिट्टी आदि के रूप मे अपने नीचे बिछाता चला आ रहा है। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही कार्य्य करता होता तो पृथ्वी का सारा तल कब का जल के भीतर होगया होता और इस पृथ्वी के गोले के ऊपर जल ही जल होता, सूखी ज़मीन कही न होती। पर पृथ्वी के ठोस आवरण के भीतर तो अभी द्रव अग्नि का गोला ही है जो ऊपर पपड़ी छोड़ता हुआ क्रमश ठढा होता चला जाता है। अतः गर्भस्थ प्रचंड ताप की शक्ति दबाव पाकर समय समय पर पपड़ी के रूप मे जमे हुए आग्नेय द्रव्य तथा पिघली हुई चट्टानो को बड़े वेग से ऊपर की ओर फेका करती है जिससे बड़े बड़े पहाड़ निकलते है और कम गहरे समुद्रो का तल भी सूखे स्थल के रूप मे उठा करता है। भूकप, ज्वालामुख-पर्वतों के स्फोट इसी आभ्यंतर ताप के प्रभाव से होते हैं। भूकंप के धक्को से कहीं एकबारगी समूचा पहाड़ निकल पड़ा है, कहीं पहाड़ी की पहाड़ी नीचे

धँस कर ग़ायब हो गई है। ये सब भूगर्भस्थ ताप के उग्र व्यापार है जिन पर हमारा ध्यान जाता है। पर ये व्यापार बराबर इतने धीरे धीरे भी होते रहते हैं कि हमे जान नही पड़ते। पृथ्वी के नाना भागो की परीक्षा करने से देखा जाता है कि कोई खड क्रमश ऊपर की ओर उठ रहा है और कोई नीचे की ओर धँस रहा है। इस प्रकार जल को नई नई परते जमाने के लिये बराबर सामग्री मिलती जाती है।

नीचे के आग्नेय द्रव्य के ऊपर आने और पिघले हुए द्रव्य के ठढे होकर जमने से जो चट्टाने बनी है उन्हे अग्न्युपल या बिना परत की चट्टाने कहते हैं। जल के भीतर थिरा कर परत पर परत जमने से जो चट्टाने (चट्टान शब्द से अभिप्राय उन सब ढेरों या तहों से है जिनसे पृथ्वी का ठोस ऊपरी तल बना है—क्या पत्थर, क्या मिट्टी, क्या रेत, क्या कोयला, क्या खरिया सब। भूगर्भविद्या मे चट्टान शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है) बनी है उन्हे वरुणस्तर या परतवाली चट्टाने कहते है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि परतवाली चट्टाने आग्नेय चट्टानों के ही ध्वस या चूर्ण से बनी हैं। जल के भीतर बनी हुई इन्ही परतवाली चट्टानो की परीक्षा द्वारा भूगर्भवेत्ता पृथ्वी के नाना कल्पो और युगो का विभाग करते और जंतुओं की उत्पत्ति का क्रम सूचित करते है। बात यह है कि इन्हीं की तहो के बीच पूर्व कल्प के जीवो के अवशेष (जैसे, अस्थिपंजर, पेड़ो के धड़ और डालियाँ आदि) या उनके अस्तित्व के चिह्न (जैसे, पक्षियो के पैरो के चिह्न,

कीड़ों के खोदे हुए बिल, पूर्वयुग के मनुष्यो के बनाए हुए पत्थर के हथियार इत्यादि) मिलते हैं। सब से प्राचीन कल्प के अर्थात् सब से पहले बननेवाले स्तरों मे शुक्तिवर्ग के क्षुद्र कीटो से ले कर सब से निम्न कोटि की मछली (अर्थात् अत्यंत क्षुद्र कोटि के रीढ़वाले जतु) तक के अवशेष मिलते है। इनसे पीछे के स्तरो मे मछलियो, सरीसृपो, पक्षियो तथा दूध पिलानेवाले जंतुओ के पंजर मिलते हैं। जंतुओ के अवशेष से भी विशिष्ट पदार्थों की चट्टाने बनती है—जैसे, खरिया मिट्टी की चट्टाने जो समुद्र मे रहनेवाले अत्यत सूक्ष्म कृमियों की ठोस खोलड़ी के तह पर तह जमने से बनती है। पत्थर का कोयला क्या है ? पूर्वयुग के पेड़ पौधो के अवशेष जो तह पर तह जमते गए वे ही आभ्यतंर ताप की तरगो के योग से कोयले के थक्के के रूप मे हो गए। चट्टानो के जमने का हिसाब लगा कर भूगर्भवेत्ता पृथ्वी की प्राचीनता का अनुमान करते हैं। जैसे, पेड़ो की पचास पुश्त की लकड़ी के जमने से एक फुट मोटा कोयले का थक्का बनता है। कोयले की तह की मोटाई बारह हजार फुट तक मानी गई है। यदि पेड़ो की हर एक पीढ़ी के लिये दस दस वर्ष भी रख ले तो इस हिसाब से बारह हजार फुट कोयला जमने मे कम से कम छ करोड़ वर्ष लगे होगे।

पृथ्वी की उत्पत्ति हुए कितना काल हुआ इस विषय मे भूगर्भवेत्ताओ और भौतिक विज्ञानियों मे थोड़ा-मतभेद है। भूगर्भवेत्ता पृथ्वी का कालनिर्णय उस हिसाब से करते हैं जिस हिसाब से चट्टानो की तहे पानी के नीचे जम रही हैं

या बरसाती पानी और नदियों के बहाव से ज़मीन के ऊपर की मिट्टी कट रही है। वे यह मान कर चलते हैं कि जिस गति से पृथ्वी पर परिवर्त्तन आज हो रहे हैं उसी गति से पहले भी बराबर होते आए हैं। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है बहुत से परिवर्त्तन जिनके लिये उन्होंने लाखो वर्ष रखे हैं विप्लव के रूप में बात की बात मे हुए हों। भूगर्भवेत्ताओ के हिसाब से उस काल को बीते दस करोड़ वर्ष के लगभग हुए होंगे जिसमे पहले पहल पानी के भीतर जमने वाली चट्टानों की तह पड़ी और मूल आदिम अणुजीवो का प्रादुर्भाव हुआ। भौतिक विज्ञानवाले सूर्य्य के ताप की उत्पत्ति के और गति के विचार से, तथा जिस हिसाब से पृथ्वी का ऊपरी तल ठंढा होता गया है उसके विचार से और कम काल बताते हैं। एक दूसरी आधुनिक युक्ति सृष्टिकाल-निर्णय की यह है कि प्रतिवर्ष नदियो का जो जल समुद्र मे जाता है उसके द्वारा समुद्रजल में नमक की वृद्धि किस हिसाब से होती है इसका पता बैठा कर आरंभकाल निकाले। इस हिसाब से भी नौ दस करोड़ वर्ष आते है।

भूगर्भवेत्ता पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति से लेकर आज तक के काल को चार मुख्य कल्पो में बाँटते हैं—

प्रथम कल्प—पौधो में सिवार, काई, और पुष्पहीन पौधे। जतुओ मे स्पंज, मूँगे, शुक्तिवर्ग के कीड़े, कीटपतंग, ढालदार मछली जो रीढ़वाले जंतुओ मे सब से निम्न कोटि की है।

द्वितीय कल्प—पेड़ो मे खजूर, ताड़ इत्यादि जिनकी

बाढ़ भीतर की ओर से सीधे ऊपर को ओर को होती है और जिनके धड़ मे लकड़ी, हीर और छाल का स्पष्ट भेद नहीं होता। जंतुओ मे समुद्र मे रहनेवाली विशाल आकार की छिपकलियां, पक्षी, पक्षियो और स्तन्य जीवो के बीच के अंडज स्तन्य (दूध पिलाने वाले), अजरायुजो और जरायुजो के बीच के अजरायुज पिंडज (आज कल के कंगारू से मिलते जुलते) जीव।

तृतीय कल्प—बड़े भारी जरायुज जंतु। मनुष्य के आकार के वनमानुस।

चतुर्थ कल्प—हाथी की तरह के पर उससे बहुत बड़े और रोएँदार मैमथ आदि जंतु। मनुष्य तथा वे सब जीव जो आज कल पाए जाते है।

किस प्रकार एक जाति के जंतु या पौधे से क्रमश. दूसरी जाति के जंतुओं और पौधो की उत्पत्ति होती गई है इसका निरूपण विकाश सिद्धांत द्वारा किया गया है। इस पृथ्वी के पूर्वकल्पो मे न जाने कितने ऐसे जंतु हो गए है जिनका वंश लुप्त हो गया है, जो अब कहीं नहीं मिलते, पर जिनकी ठटरियाँ जमीन के नीचे दबी मिलती है। मैमथ इसी प्रकार का जंतु हो गया है जो हाथी के रूप का था पर उससे बहुत बड़ा और रोएँदार होता था। बीस बीस हाथ लंबी ऐसी काँटेदार छिपकलियो की ठटरियाँ मिली है जो हवा मे उड़ती थीं। अब वे भीमकाय और भयंकर जंतु पृथ्वी पर नहीं रह गए। एक प्रकार के जंतु से दूसरे प्रकार के जंतु एकबारगी तो उत्पन्न नहीं हो गए। दोनों के बीच की वंशपरंपरा मे ऐसे जंतु रहे होगे

जिन मे थोड़े बहुत दोनो के लक्षण रहे होगे। इस प्रकार के मध्यवर्त्ती जंतु कुछ तो अब भी मिलते है और कुछ की ठट-रियाँ भूगर्भ मे मिलती हैं। इन ठटरियो से प्राणिविज्ञानविदो को एक प्रकार के जंतु से दूसरे प्रकार के जंतु की उत्पत्ति की शृंखला जोड़ने मे बड़ा सहारा मिलता है। जैसे, विकाश सिद्धांत द्वारा स्थिर हुआ है कि पंजेवाले जंतुओ से ही क्रमश. घोड़े आदि टापवाले जंतुओ का विकाश हुआ है, पर आज कल घोड़े की तरह का कोई ऐसा जंतु नहीं मिलता जिसमे उँगलियो के चिह्न हो। पर घोड़े की तरह के ऐसे जतुओ की ठटरियाँ मिली है जिनके पैरो मे उँगलियाँ या उँगलियो के चिह्न है। वे घोड़ो के पूर्वज थे।

जीवधारियो के संबंध मे पहले लोगो की धारणा थी कि जितने प्रकार के जीव आजकल है सब एक साथ सृष्टि के आरंभ मे ही उत्पन्न हो गए थे अर्थात् जितने प्रकार के जीवों के ढाँचे आदि मे थे वे सब बिना किसी परिवर्त्तन के अब तक ज्यों के त्यो चले आ रहे है। डारविन ने इस विश्वास का खंडन किया और 'विकाश सिद्धांत' की स्थापना करके यह सिद्ध कर दिया कि ये अनेक प्रकार के ढाँचो के जो इतने जीव दिखाई पड़ते हैं सब एक ही प्रकार के अत्यंत सादे ढाँचे के क्षुद्र आदिम जीवों से क्रमशः करोड़ो वर्ष की वंशपरंपरा के बीच स्थिति के अनुसार अपने अवयवो मे भिन्न भिन्न परि-वर्त्तन प्राप्त करते हुए और उत्तरोत्तर भेदानुसार अनेक शाखाओं मे विभक्त होते हुए उत्पन्न हुए है। इसी विकाश क्रम के अनुसार मनुष्य जाति भी पूर्व युग के उन जीवो से

उत्पन्न हुई जिनसे बंदर बनमानुस आदि उत्पन्न हुए—अर्थात् बनमानुसों और मनुष्यों के पूर्वज एक ही थे। इस विकाश-वाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्मपुस्तको की पौराणिक सृष्टिकथा के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणो मे योनियाँ स्थिर कही गई है और उनकी सख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुड़पुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियो की गिनती तक है *। डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवो से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवो की उत्पत्ति हुई है। योनियाँ स्थिर नहीं है, स्थितिभेद के अनुसार असंख्य पीढियो के बीच उनके अवयवो आदि मे परिवर्त्तन होते आए है जिससे एक योनि के जीवो से दूसरी योनि के जीवो की शाखा चली है। जिस 'जात्यंतर-परिणाम' को एक व्यक्ति से तीव्र परिणाम के रूप मे पतंजलि ने अपने योगदर्शन मे प्रकृति की पूर्णता से संभव बतलाया था + उसी को डार-विन ने मृदु परिणाम के रूप मे वंशपरंपरा के बीच प्रकृति का एक नियम सिद्ध किया।

---

* एकविंशति लक्षाणि ह्यडजाः परिकीर्तिता।
स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिज्जास्तत्प्रमाणतः॥
गरुडपुराण अ० २

+ जात्यतर परिणामः प्रकृत्यापूरात्। ४।२

नदीश्वर नाम का कोई व्यक्ति इसी शरीर से मनुष्य से देवता हो गया था। किस प्रकार एक योनि का जीव दूसरी योनि का

यह 'जात्यंतरपरिणाम' होता किस प्रकार है ? 'वंशपरंपरा' और 'प्राकृतिक ग्रहण' के नियमानुसार। वंशपरंपरा का नियम यह है कि जो विशेषता किसी जीव मे उपन्न हो जाती है वह पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और क्रमशः अधिक स्पष्ट होती जाती है। किसी जीव मे कोई नई विशेपता उत्पन्न कैसे होती है ? परिस्थिति के अनुसार। जिस स्थिति मे जा जीव पड़ जाते है उसके अनुकूल उनके अग और उनका स्वभाव क्रमश होता जाता है। नई स्थिति में जिन अंगो के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रह जाती वे निष्क्रिय होते होते कई पीढ़यों के पीछे लुप्त हो जाते है। जिन अवयवों का जिस रूप मे व्यवहार आवश्यक हो जाता है उस रूप के व्यवहार के उपयुक्त उनके ढाँचे मे भी फेरफार हो जाता है। ऐसा एक दो दिन मे नहीं होता, असंख्य पीढ़ियो के बीच मृदु परिणाम के रूप मे क्रमश. होता जाता है। परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन होना बराबर देखा भी जाता है। एक प्रकार का साँप होता है जो बालू मे अंड देता है। उसे यदि पिंजड़े मे बंद कर के रखते हैं तो वह बच्चे देने लगता है, अर्थात् अंडज से पिडज हो जाता है। जो विशेपता एक बार उत्पन्न हो जाती है वह बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और बढ़ती जाती है। जंतुओं के व्यापारी इस बात को जानते हैं। वे प्राय. ऐसा करते हैं कि किसी

जीव हो सकता है यही इस सूत्र में बताया गया है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पतंजलि का अभिप्राय एक व्यक्ति को योन्यंतर-प्राप्ति है। डारविन ने असंख्य पीढियों में जा कर ऐसा परिणाम होना बताया है।

जाति के कुछ जंतुओ मे औरों से कोई विलक्षणता देख उन्हे चुन लेते है और उन्ही के जोड़े लगाते है। फिर उन जोड़ो से जो जंतु उत्पन्न होते है उनमे से भी उनको चुनते हैं जिनमे वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पीढ़ियो पीछे एक नए रूपरग और ढॉचे का जन्तु उत्पन्न कर लेते है। जंगली (गोले) नीले कबूतर से अनेक रंग ढंग के पालतू कबूतर इसी तरह पैदा किए गए हैं। यह तो हुआ मनुष्य का चुनाव या 'कृत्रिम ग्रहण'। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे "प्राकृतिक ग्रहण" कहते है। दोनों मे अतर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जतुओ को चुनता है, पर प्रकृति का चुनाव जंतुओ के लाभ के लिये होता है। 'प्राकृतिक ग्रहण' का अभिप्राय यह है कि जिस परिस्थिति मे जो जीव पड़ जाते है उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते है तो रह जाते है, नहीं तो नष्ट हो जाते है। प्रकृति उन्ही जीवो को रक्षा के लिये चुनती है जिनमे स्थितिपारिवर्त्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते है।

ह्वेल को ही लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओ का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जतुओ से क्रमश उत्पन्न हुआ है। उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलो में रहते थे। क्रमश. ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीन पर रहना कठिन होता गया और स्थिति-परिवर्त्तन के अनुसार उनके अवयवो मे फेरफार होता गया यहाँ तक कि कुछ काल (लाखो वर्ष

समझिए) पीछे उनकी संतति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवो का विधान होगया—जैसे, उनके अगले पैर मछली के डैनो के रूप के होगए, यद्यपि उनमे हड्डियाँ वे ही बनी रही जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैरो मे होती है। कई प्रकार के ह्वेलो मे पिछली टाँगो का चिह्न अब तक मिलता है। जीवो के ढाँचो मे बहुत कुछ परिवर्त्तन तो अवयवो के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलने पर कुछ अवयवों का व्यवहार अधिक करना पड़ता है, कुछ का कम। मनुष्य को ही लीजिए जिसकी उत्पत्ति बनमानुसो से मिलते जुलते किसी जंतु से धीरे धीरे हुई है। ज्यो ज्यो दो पैरो के बल खड़े होने और चलने की वृत्ति उसमे अधिक होती गई त्यो त्यो उसके दोनो पैर चिपटे, चौड़े और दृढ़ होते गए और एड़ी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। उसी पूर्वज जतु से बनमानुसो की भी उत्पत्ति हुई है। बनमानुस से मनुष्य के शरीर के ढाँचे मे तो उतना अधिक भेद नही पड़ा, पर अंत करण या मस्तिष्क की वृद्धि बहुत अधिक हुई।

दार्शनिक अनुमान के रूप मे तो विकाशसिद्धात बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनो ओर चला आ रहा है। एक अव्यक्त मूल प्रकृति से किस प्रकार क्रमश जगत् का विकाश हुआ है सांख्य मे इसका प्रतिपादन किया गया है। यूनानी तत्त्ववेत्ता भी जगत् का विकाश इसी प्रकार मानते थे। पर वैज्ञानिक निश्चय और दार्शनिक अनुमान मे बड़ा भेद होता है। दार्शनिक संकेत मात्र देते है और वैज्ञानिक ब्योरों की छानबीन करते है। जिस समय डारविन ने प्राणियो

की उत्पत्ति के संबंध मे विकाशसिद्धांत वहुत से प्रत्यक्ष प्रमाणो से पुष्ट कर के प्रकाशित किया उस समय वहुत से लोग विशेषतः पादरी लोग उसके विरोध मे खड़े हुए। पर साथ ही बहुत से वैज्ञानिक नए नए प्रमाणो द्वारा उसे पुष्ट करने मे तत्पर हुए। जरमनी के जगत्प्रसिद्ध प्राणिविद्या विशारद अध्यापक हैकल इनमे मुख्य थे। उन्होने सन् १८६६ मे, अर्थात् डारविन की पुस्तक प्रकाशित होने के ६ वर्ष पीछे, 'प्राणियो की शरीररचना' नामक एक वहुत वड़ा ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमे अनेक नए नए अनुसंधानो के आधार पर यह अच्छी तरह दिखाया गया है कि इस पृथ्वी पर क्रम क्रम से एक ढाँचे के जीव से दूसर ढाँचे के जीव लाखो वर्ष की मृदु परिवर्त्तन-परपरा के प्रभाव से बराबर उत्पन्न होते आए है। हैकल ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीवो से ले कर मनुष्य तक आनेवाली शृंखला ही उत्पत्तिक्रम से दिखा कर सतोष नहीं किया बल्कि विकाश को विश्वव्यापक नियम निश्चित करके निर्जीव, सजीव, जड़, चेतन सभी व्यापारो को उसके अंतर्गत बताया। अब आजकल तो प्रत्येक विभाग के वैज्ञानिक अपने अपने विषय का निरूपण विकाशक्रम के अनुसार ही करते है।

इस पृथ्वी पर जल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह ऊपर कहा जा चुका है। जल ही में जीवनतत्त्व की उत्पत्ति हुई। जल ही मे उस सजीव या सेंद्रिय * द्रव्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसे

* सेन्द्रिय चेतनं द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्।—चरक।

कललरस कहते हैं। जिन्हे हम सजीव व्यापार कहते हैं—जैसे, आपसे आप चलना, खाना, पीना, बढ़ना, आहार की ओर दौड़ना, छूने से हटना – वे सब इसी अद्भुत द्रव्य की क्रियाएँ है। इसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजीध कणिका भी ये सब व्यापार करती है। यह अंडे की जरदी से मिलताजुलता मधु के समान चिपचिपा दानेदार द्रव्य है जो अणुजीव के रूप में जल के भीतर भी इधर उधर घूमता फिरता पाया जाता है और छोटे वड़े सब प्राणियो के शरीर में भी। इसकी गूढ़रचना अंगारक (कारवन), अम्लजन गैस (आक्सिजन), नत्रजन गैस और हाइड्रोजन गैस द्वारा संघटित द्रव्यो के विलक्षण मेल से हुई। इन द्रव्यो में अंगारक ही मुख्य है। रासायनिको की परीक्षा से ये ही चार मूल द्रव्य इसमें मुख्यतः पाए गए। जल, गंधक, फासफर का अंश भी कुछ रहता है। यद्यपि अपने विश्लेषण द्वारा रासायनिक इस अद्भुत द्रव्य के मूल उपादानो को जान गए है पर वे उनके द्वारा संघटित अणुओ की विलक्षण योजना को कुछ भी नहीं समझ सके है।

विकाशसिद्धांत के अनुसार इस सजीव द्रव्य की उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से माननी पड़ती है। पर कोई रासायनिक आज तक अपनी योजना द्वारा इसे उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं हुआ। यह केवल सजीव प्राणियो—जंतुओ और पौधो–मे ही पाया जाता है। यह जव पाया जाता है तव शरीर (विंदुरूपी शरीर ही सही) रूप में ही जीवन के व्यापार करता पाया जाता है, निर्जीव द्रव्यों से वनता हुआ कहीं नहीं पाया जाता। इससे वहुत से लोग इसकी उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से नहीं

मानते । विकाशवाद के प्रसिद्ध निरूपक हक्सले तक ने कह दिया कि इस प्रकार की उत्पत्ति के प्रमाण नहीं मिलते। पर अधिकांश वैज्ञानिक इस प्रकार की उत्पत्ति मानना अनिवार्य्य समझते है। वे यह तो मान नहीं सकते कि आदि से ही ऐसे जटिल द्रव्य की योजना चली आ रही है या सजीवता एक अभौतिक तत्त्व के रूप मे कहीं से टपक पड़ी है। अभी सन् १९१२ मे ब्रिटिश असोसिएशन के सामने शरीर-विज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य्य (एडिनबरा के) अध्यापक शेफर ने कहा है—

"सजीव द्रव्य उत्पन्न कर देने की संभावना उतनी दूर नहीं है जितनी साधारणत. समझी जाती है। इच्छानुसार सजीव द्रव्य उत्पन्न किया जाने लगे तो भी आकार और व्यापार मे परस्पर भिन्न जो इतने असख्य प्रकार के जीव दिखाई पडते है विज्ञान के परीक्षालयों मे उनक तैयार होने की कोई आशा नही की जा सकती। यदि सजीव द्रव्य तैयार किया जा सकेगा, जिसमे मुझको कोई संदेह नहीं है, तो वह सजीव द्रव्य के उबाले हुए अर्क से नहीं। चाहे आज तक काम मे लाई गई युक्तियो और प्रमाणो पर हमे विश्वास न हो पर यह हमे मानना पड़ेगा कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य तैयार करने की संभावना है।"

निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य उत्पन्न होता कहीं पाया नहीं जाता इसी बात की पुकार सुन कर हैकल को यह मानना पडा है कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य इस पृथ्वी पर केवल एक बार आरंभ मे उत्पन्न हुआ, उसके उपरांत वह वंशवृद्धि

क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस सिद्धांत के संबंध मे अध्यापक शेफर ने कहा—

"यदि हम यह मान लेते है कि पृथ्वी के इतिहास मे केवल एक ही बार निर्जीव से सजीव का विकाश हुआ है तो प्राणतत्त्व-संबंधिनी समस्याओ के अंतिम समाधान की कोई आशा नहीं रह जाती। पर क्या हमें ऐसा मान लेना उचित है कि पृथ्वी पर केवल एक ही बार, वह भी न जाने किस शुभ संयोग से, निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य का विकाश हुआ और प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा हुई? ऐसा मानने का कोई कारण न देख अंत मे यही धारणा पक्की ठहरती है कि निर्जीव से सजीव का विकाश एक ही बार नहीं कई बार हुआ है और कौन जाने अब भी हो रहा हो"।

जीवों का विकाश-क्रम दिखाने के पहले यह कह देना आवश्यक है कि जतु और पौधे दोनो सजीव सृष्टि के अंतर्गत हैं, दोनो मे जीव है। पहले लोग समझते थे कि जंतु चर है और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है कि "उद्भिज्जाः स्थावरास्सर्वे बीजकांडप्ररोहिण"। पर वास्तव मे चर अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जतु हैं जो अचर हैं (जैसे, स्पज, मूँगा आदि) और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते है जो बराबर चलते फिरते रहते हैं। बहुत से ऐसे पौधे होते हैं जो जंतुओ के समान मक्खियों आदि का शिकार करते है, उन्हें अपनी पत्तियो में बंद करके पचा जाते हैं। जंतुओं और पौधो मे मूलभेद नहीं है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण खुमी (कुकुरमुत्ते) की

जाति के कुछ समुद्री पौधो मे मिलता है जिनके बीजकण जंतु के रूप मे अलग हो कर अपनी रोइयो से पानी मे तैरते फिरते हैं और कुछ दिन पीछे किसी चट्टान आदि पर जम जाते है और पौधे के रूप में हो कर बढ़ते हैं। यह बात तो बहुत से लोग जानते ही हैं कि पौधो में भी पाचनक्रिया होती है और वे भी साँस लेते हैं। पर पहले लोग जंतुओ मे यह विशेषता समझते थे कि उनमे पाचन के लिये अलग कोठा (पेट) होता है, वे अम्लजन वा प्राणद्वायु साँस द्वारा खीचते हैं और अंगारक (कारबन) वायु निकालते हैं तथा उनमे संवेदन-सूत्रात्मक विज्ञानमय कोश होता है। पर अब ऐसे क्षुद्र कोटि के जतुओ का पता है जिनमे पेट, मुँह आदि कुछ नहीं होता और कई ऐसे पौधे देखे गए हैं जिनमे ये अंग होते है। पहले लोगो को केवल उच्च कोटि के जंतुओ का ही ज्ञान था जिनका खाद्य ठोस होता है और जिनके लिये पक्वाशय और मुहँ की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार पेड़ पौधो मे भी लोग उन्ही को जानते थे जिनका आहार वायव्य या द्रव होता था। अब मांसाशी पौधो की पत्तियो की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि उनमे काँटो की तरह सूक्ष्म ग्रंथियाँ होती है जिनमे पित्तरस रहता है (जैसे जंतुओ के यकृत और आंतों की ग्रथियो मे)। यही तक नही अंकुरित बीजों मे जंतुओ के पाचनरस का सा विधान देखा जाता है और बीजदल में जो खाद्य द्रव्य रहता है वह उसी प्रकार पच कर बीज को पुष्ट करता है जिस प्रकार पेट मे भोजन पचता है। हरे पौधे प्रकाश मे तो अंगारकवायु का विश्लेषण करके अम्लजन वायु छोड़ते हैं, पर अंधेरे मे

इसका उलटा करते हैं—अर्थात् जंतुओ के समान अम्लजन का ग्रहण और अंगारक का विसर्जन करते हैं।

अब रहा संवेदन। संवेदन का सब से आदिम रूप है प्रतिक्रिया अर्थात् किसी पदार्थ के साथ संपर्क होते ही शरीर मे भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है, अर्थात् यह ज्ञानपूर्वक नहीं होती—जैसे आँख के पास किसी वस्तु के जाते ही पलको का आप से आप बंद हो जाना, दूसरी ओर ध्यान रहने पर पैर मे कुछ छू जाते ही पैर का आप से आप हट या सिमट जाना इत्यादि। अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवो मे संवेदन इसी प्रतिक्रिया के रूप मे ही माना जाता है। लजालू आदि पौधो में तो यह प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जाती है। और सब पौधों के भीतर भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है पर वह सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नही पडती। जिस प्रकार अणुजीव छू जाने पर संकुन्वित हो जाते हैं उसी प्रकार पौधो के घटक भी करते पाए जाते हैं। पौधो की जड़ो की नोके अत्यंत संवेदनग्राहिणी होती हैं। जहां उन पर संपर्क आदि द्वारा संवेदन हुआ कि वह एक घटक से दूसरे घटक में उसी प्रकार पहुँचता है जिस प्रकार क्षुद्र जंतुओं में। फूल पत्तों मे सोने जागने की गति देखी ही जाती है जो प्रकाश के प्रभाव से होती है। प्रकाश का प्रभाव जिस प्रकार हमारे सवेदनविधान या विज्ञानमय कोश पर पड़ता है उसी प्रकार पौधो के संवेदन-विधान पर भी। कमल आदि बहुत से फूलों का दिन का प्रकाश पा कर खिलना और रात को बंद हो

जाना एक प्रसिद्ध बात है। मनु ने भी उद्भिज्जों की गिनती जीवों या प्राणियों मे की है और उनमें अंतस्संज्ञा मानी है, यथा-तमसा बहुरूपेण वेष्टितः कर्म्महेतुना। अंतस्संज्ञा भवन्त्येते सुख दु ख समन्विता ॥ अध्यापक जगदीशचंद्र वसु ने तो पौधो के सुख दुःख आदि के संवेदन को अर्थात् उनके संवदनसूत्रो में उत्पन्न क्षोभ को अपने सूक्ष्म और अद्भुत यंत्रो द्वारा प्रत्यक्ष दिखा दिया है। यहीं तक नही उन्होने अपनी खोज और आगे बढ़ाई है। उन्होंने धातुओं में भी संवेदन के क्षोभ का आभास दे कर निर्जीव और सजीव के बीच समझे जाने वाले भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया है। अध्यापक शेफर ने भी अपने व्याख्यान मे कहा था कि "आजकल क नए नए अनुसंधानो से यह सूचित हुआ है कि निर्जीव और सजीव मे जितना भेद प्रतीत होता है वास्तव मे उतना भेद नहीं है और इन दोनों का एक सामान्य लक्षण स्थापित होने की संभावना बढ़ गई है।"

अत्यंत क्षुद्र कोटि के जंतुओ और पौधो मे तो प्राय सब बातो मे समानता पाई जाती है। पर ज्यो ज्यों हम उन्नत पौधो की ओर आते हैं त्यों त्यो उनमे जंतुओ से विभिन्नता अधिक मिलती जाती है। इससे स्पष्ट है कि एक ही सजीव द्रव्य वा कललरस से जंतुओं और उद्भिदो दोनो की उत्पत्ति हुई पर आरंभ ही से उद्भिज्जों की शाखा अलग हो गई और उनकी विकाशपरंपरा अलग चली। यह भेद पौधो मे उस हरित धातु के कारण पड़ा जो उनके कललरस में मिली रहती है और जिसके कारण पेड़ पौधों का रंग हरा दिखाई पड़ता

है। यह हरितधातु वास्तव मे कललरस का ही एक विकार है जो जंतुओ के कललरस में नहीं होता। अत्यंत क्षुद्र कोटि के कुछ कृमियो मे यह बहुत थोड़ी मात्रा में पाई जाती है; पर जतुओं में इसका अभाव ही समझना चाहिए। इस धातु मे से इसका हरा रंग निकाला भी जा सकता है। शिशिर ऋतु मे पत्तियों के रंग का बदलना इसी रंग के फटने के कारण होता है।

पौधो और जतुओ मे बडा भारी भेद आहार का है। ऊपर कहा जा चुका है कि पौधो का आहार वायु और मिट्टी आदि मिले हुए जल के रूप मे होता है। जिस प्रकार ये वायव्य द्रव्यो को विश्लिष्ट कर के अपना ठोस अंग बनाते हैं उसी प्रकार मिट्टी आदि को सजीव धातु के रूप मे लाते हैं। इस प्रकार अदृश्य को दृश्य रूप में और निर्जीव को सजीव द्रव्य मे परिणत करने की शक्ति पेड़ पौधो मे ही है जंतुओं में नहीं जिनका भोजन किसी न किसी जीवधारी का शरीर ही होता है, चाहे जंतु का हो चाहे वनस्पति का। पौधो में यह अद्भुत शक्ति उक्त हरित धातु के ही कारण होती है *। जड़ो

---

* छत्राक या खुमी की जाति के पौधो (कुकुरमुत्ता, ढिंगरी, भूफोड़, भुकड़ी इत्यादि) में हरित धातु नहीं होती इससे उनका रग भी हरा नहीं होता और उनमे उद्भिद्धर्म भी नहीं होता। वे मिट्टी पानी आदि निर्जीव द्रव्यो को अपने शरीर की धातु के रूप मे नहीं ला सकते। उनका पोषण मिट्टी और पानी से नहीं हो सकता। उनके पोषण के लिये किसी जीव का अर्थात् पौधे या जतु का शरीर

से जो जल पौधे खींचते हैं और पत्तियो के सूक्ष्म छिद्रों से जो अंगारक वायु भीतर लेते हैं उन्हे यह धातु सूर्य्य की गरमी पा कर विश्लिष्ट कर देती है जिससे अम्लजन वायु तो निकल जाती है उदजन वायु (हाइड्रोजन) और अंगारक रह जाता है। इन दोनों से मिल कर यह उन अंगारक-मिश्रणो को घटित करती है जो शरीर-धातु कहलाते हैं और जिनसे पौधो के घटक, ततुजाल आदि बनते हैं। जंतु ऐसा नहीं करते। वे जल, क्षार, वायु, मिट्टी आदि निर्जीव द्रव्यों को खा कर सजीव द्रव्यों के रूप में नही ला सकते। वे पौधो से ही शरीर-धातु बनी बनाई प्राप्त करते है। पेड़ पौधे ही जड़ द्रव्य से इस धातु का निर्माण करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कललरस की उत्पत्ति जल मे ही हुई। इसी कललरस के अत्यंत सूक्ष्म कण जो स्वतंत्र रूप से जीवो के मूल व्यापार करते हैं घटक कहलाते हैं। .नमें कुछ तो मधुबिंदुवत् खुले ही रहते हैं, कुछ के ऊपर झिल्ली होती है, कुछ के बीच मे एक बहुत सूक्ष्म गुठली सी होती है और कुछ सर्वत्र समान वा एकरस होते है।

चाहिए। इससे वे जब उगेंगे तब सड़ी लकड़ी के ऊपर या ऐसी जगह जहाँ की मिट्टी में मरे हुए जंतुओं या पौधों के शरीरांश मिले होंग। बरसात मे फलों आदि के ऊपर जो सफद सफेद भुकड़ी जम जाती है वह इसी जाति के पौधो का समूह है। दाद के चकत्तो में इन्हीं का समूह समझिए। सड़ाव और खमीर का कारण भी खुमी की जाति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीव हैं।

इन्हीं घटकों के योग से पौधों और जंतुओ के शरीर संघटित हुए हैं। इन घटकों को अणुशरीर समझिए क्योंकि ये जिस प्रकार जीवधारियों के शरीर मे तंतुजाल के रूप मे गुछे पाए जाते हैं उसी प्रकार जीव के रूप मे समुद्र या गड्ढो आदि के जल मे भी चलते फिरते पाए जाते हैं। इन्ही अणुशरीरों की योजना से छोटे बड़े सब शरीर बने है—क्या जंतुओ के, क्या पेड़ पौधो के *। शुक्रकीटाणु और रजःकीटाणु भी एक विशेप प्रकार के सूक्ष्म घटक मात्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि घटक अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। कुछ तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक इंच के लाखवे भाग के बराबर भी नही होते। जैसे कुछ अणूद्भिद्। कुछ इतने बड़े होते हैं कि बिना खुर्दबीन की सहायता के भी देखे जा सकते हैं। पर अधिकांश घटक या घटकरूप जीव अच्छे सूक्ष्मदर्शक यत्र के बिना नहीं दिखाई पड़ते। जो जीव एक घटक मात्र है वे एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं और जिनका शरीर दो या अधिक घटकों का होता है वे बहुघटक जीव कहलाते हैं।

आदि में एकघटक अणुजीव ही जल मे उत्पन्न हुए जिनका शरीर एक घटक मात्र था।

एक घटक अणूद्भिद् अब भी समुद्र, ताल आदि के जल

---

* चरक ने भी शरीर के परमाणुरूप सूक्ष्म अवयव माने हैं। शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। —चरक ७

मे पाए जाते हैं। उनमे स्त्री पुं० भेद नहीं होता, उनकी वृद्धि बीज से नहीं होती विभाग द्वारा होती है। अणुरूप एक-घटक पौधे छोटे बड़े कई प्रकार के होते हैं। इन अणूद्भिदों के पहले पहल परस्पर मिल कर एक शरीर बनाने से अत्यंत क्षुद्र कोटि के बिना फूलवाले पौधे हुए, जैसे, सेवार, काई, भुकड़ी, खुमी इत्यादि जिनमें खुले हुए अंकुरविंदु उत्पन्न होते हैं। इन खुले हुए अंकुरविंदु वाले पौधों से फर्न आदि आवरणयुक्त अंकुरविंदुवाले पौधे हुए। इन अंकुरविंदुवाले पौधो की वृद्धि गर्भकेसर और परागकेसर द्वारा नहीं होती, ये निष्पुष्प पौधे हैं। इनमे अंकुरविंदु निकलते है जिनसे अंकुरित होकर नए पौधे उत्पन्न होते है। पर कुछ गूढलिंग निष्पुष्प पौधे ऐसे भी होते हैं जिनमें यद्यपि स्त्री पु० अवयव (गर्भकेसर परागकेसर) अलग अलग नहीं होते पर जंतुओं के शुक्रकीटाणु और रजःकीटाणु के समान स्त्री पुं० घटक अलग अलग होते है। अंकुरविंदुवाले पौधों से क्रमश. फूल-वाले अर्थात् स्त्री पुं० अवयववाले पौधे हुए जिनमे गर्भाधान गर्भकेसर के बीच परागकेसर के पराग के पड़ने से होता है। गर्भकेसर और परागकेसर ही वास्तव मे पुष्प है, रंगीन दल या पखड़ी नहीं। अत्यंत निम्न श्रेणी के फूलवाले पौधों मे पँखड़ियाँ नहीं होतीं। फूलवाले पौधो मे पहले देवदार आदि खुले बीज के पौधे हुए फिर उनसे आवरणयुक्त बीजवाले तृण, लता, गुल्म, वृक्ष इत्यादि हुए।

इसी प्रकार जंतुओ मे सब से मूल जंतु अणुरूप ही हुए। अणुजीव अब भी समुद्र या तालो में पाए जाते है और अत्यंत

सूक्ष्म कललविंदु मात्र होते हैं। ये बहुत अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा ही दिखाई पड़ सकते हैं। अत्यत सूक्ष्म अणुरूप ऐसे जीवों को छोड़ जिनके व्यापार आदि स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं हो सके हैं सब से सादा और सूक्ष्म जीव जिसके कार्य्यकलाप देखे जा सके हैं मोनरा है। यह जल मे पाया जाता है। इसका सारा शरीर मधुविंदुवत् सर्वत्र समान होता है, उसमें पेट, मुहँ, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अलग अलग अंग नहीं होते। इन अंगों से जो व्यापार होते है वे आवश्यकतानुसार इस जंतु के प्रत्येक भाग से सम्पादित होते हैं। जीवों के व्यापार तीन हैं—पोषण, प्रजनन और वाह्यविषय-ग्रहण। मोनरा प्रत्येक भाग से अपना आहार भीतर ले सकता है, प्रत्येक भाग से पचा कर निकाल सकता है, प्रत्येक भाग से वायु को खींच और छोड़ सकता है। यह अपने चारो ओर जिधर आवश्यक होता है उधर लंबे लंबे शंकु या पदाभास निकालता है। इसका शरीर मधुविंदुवत् तो होता ही है जिधर शंकु या पदाभास निकलते है उसी ओर को ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह चलता है और अपने शिकार या आहार (जल मे मिले हुए अत्यंत सूक्ष्म अणूद्भिद् या जंतु) को छोप लेता है। शरीर का प्रत्येक भाग आहार चूस सकता और मल वाहर निकाल सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवो में स्त्री पुं० विधान नहीं होता। उनकी अमैथुन सृष्टि होती है। अव मोनरा मे प्रजनन या वृद्धि किस प्रकार होती है यह देखिए। जो मोनरा आहार आदि पाकर खूब पुष्ट होता है वह कुछ

अधिक लंबा हो जाता है और उसका मध्य भाग पतला पड़ने लगता है यहाँ तक कि बहुत कम रह जाता है और जंतु बीच से दो भागो मे विभक्त दिखाई पड़ता है। अंत मे मध्य से टूट कर दोनो भाग अलग अलग हो जाते हैं अर्थात् दो नए जंतु होकर अपना जीवन आरंभ करते और बढ़ते हैं। इस प्रकार पूर्व जंतु का व्यक्तित्व या जीवन समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर दो नए जंतु हो जाते है। ऐसे प्रजनन-विधान को विभाग कहते हैं।

जंतुओ का प्रधान लक्षण वह क्रिया है जो उनमे बाह्य वस्तुओ के संपर्क से उत्पन्न होती है जैसे ईथर या आकाश द्रव्य की लहरो का संपर्क जिसका ग्रहण नेत्रेंद्रिय में प्रकाश रूप मे होता है, वायु की तरंगो का संपर्क जिसका ग्रहण श्रोत्रेंद्रिय मे शब्द रूप से होता है, स्थूल पदार्थों का सपर्क जिसका ग्रहण त्वचा को स्पर्श रूप से होता है। मोनरा को अलग अलग अवयव या इंद्रियाँ नही होतीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह बाह्य विषयों का ग्रहण नही करता। भिन्न भिन्न विषयो का ग्रहण उसमे सर्वत्र समान रूप से होता है। यह ग्रहण चाहे अत्यंत सूक्ष्म वा अल्प हो, पर होता अवश्य है। किसी वस्तु से छू जाने पर उसका शरीर सुकड़ जाता है। इस प्रकार स्पर्श का संवेदन उसमे प्रत्यक्ष देखा जाता है।

मोनरा से कुछ उन्नत कोटि का जीव अमीबा (अस्थिराकृति अणुजीव) है जिसमें एकरूपता या निर्विशेषत्व (एक भाग से दूसरे भाग मे कोई विशेषता न होना) का भंग

और अनेकरूपता का कुछ कुछ आरंभ होता है। मोनरा का शरीर मधुविंदुवत् सर्वत्र एकरूप होता है पर अमीवा के शरीर पर अत्यंत महीन झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच में एक सूक्ष्म गुठली सी होती है जो यद्यपि कललरस की ही होती है पर अधिक तीव्र होती है। इस गुठली के अतिरिक्त कललरस के बीच झिल्ली से घिरा हुआ एक खाली स्थान भी होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। मोनरा के समान इसकी गतिविधि और पाचन क्रिया भी कललरस की ही गति और क्रिया से होती है। अत्यंत सूक्ष्म अणुजीव या पौधे अथवा उनसे कुछ बड़े जीवों के शरीरखंड जो जल में रहते हैं और आहार के रूप में इसके भीतर जाते हैं उनके सार भाग को तो कललरस अपनी ही क्रिया से अपने में मिला लेता है और शेष भाग को बाहर निकाल देता है। इसका चलना भी कललरस ही की क्रिया से होता है अर्थात् जिस ओर शंकु या पदाभास निकलते हैं उस ओर सारा कललरस (अर्थात् शरीर) ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह अपना मार्ग निकालता चला जाता है। जल में जहाँ रेत या मिट्टी के सूक्ष्म कण होते हैं वहाँ यह उन्हें बड़ी सफाई से बचा जाता है। पदाभासों के निकालने का कोई निश्चित स्थान न होने से इसका आकार स्थिर नहीं होता।

ऊपर कहा जा चुका है कि कललरस का अत्यंत सूक्ष्म कण जो प्राणियों के सब आवश्यक व्यापार स्वतंत्र रूप से कर सकता है घटक कहलाता है और मोनरा या अमीबा इसी प्रकार का एक घटक मात्र है। अतः

ये दोनो एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं। इसी प्रकार के घटकों के योग से सब जंतुओं के शरीर बने है। मनुष्य के रक्त की श्वेत-कणिकाएँ (जो अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा ही देखी जा सकती हैं) अमीवा से मिलती जुलती होती हैं और उसी के समान सब व्यापार करती हैं। मोनरा और अमीवा अत्यत सादे ढाँचे के जीव है। इनके अतिरिक्त छोटे बड़े और अनेक प्रकार के एक-घटक अणुजीव होते हैं जिनमे से कुछ तो इतने बड़े (एक इंच के १०० वे भाग के बराबर) होते हैं कि आँख से अच्छी तरह दिखाई पड़ सकते है। बहुत से अणुजीव जल मे से चूने आदि का सग्रह करके अपने ऊपर कड़ी खोलड़ी बनाते हैं। कुछ अणुजीवो की खोलड़ियाँ बहुत ही सुदर और चित्रविचित्र होती हैं। जब वे अणुजीव मर जाते है तब खोलड़ियाँ गिर कर पानी के तल मे बैठ जाती हैं। खरिया मिट्टी ऐसे ही जीवो की खोलड़ियो के तह पर तह जमने से बनती है।

जैसा कि पहले कह आए है अणुजीवो मे जोड़े नहीं होते, उनकी वृद्धि अमैथुन विधान से होती है—अर्थात् कुछ अणुजीवों मे तो यह होता है कि एक जीव के बीच से दो खड होकर दो अलग अलग जीव हो जाते हैं और कुछ के शरीर पर अकुरविंदु निकलते हैं जो अलग होकर और बढ़कर स्वतत्र जीव हो जाते हैं। पर कुछ उन्नत कोटि के अणुजीव ऐसे भी होते हैं जिनमें मैथुन-विधान अपने मूलरूप में देखा जाता है। ये पुछल्लेवाले अणजीवों मे से है और बहुत से

मिल कर चक्र या छत्ता बना कर रहते हैं । एक छत्ते के अंतर्गत अनेक जीव रहते हैं । तरुणावस्था प्राप्त होने पर कुछ जीव छत्ते से अलग हो जाते हैं और मिल-कर एक अलग कीटाणुचक्र बनाते हैं और कुछ अलग अलग बढ़कर गर्भांड के रूप मे हो जाते हैं। कीटाणुचक्र का प्रत्येक कीटाणु पुछल्लेदार सूक्ष्म कीट होता है (मनुष्य आदि जरा-युज जंतुओ के शुक्रकीटाणु भी इसी प्रकार के होते है) जो गर्भांड रूप कीट से बहुत छोटा होता ह । पुछल्लेदार पु० कीटाणु चक्र से छूटने पर अपने पुछल्लों को लहराते हुए जल मे इधर उधर तैरने लगते हैं पर गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु अचल भाव से स्थिर रहते है। एक एक गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु को अनेक पुं० कीटाणु जा घेरते हैं और अत मे एक उसके भीतर घुस कर सयुक्त हो जाता है। इस प्रकार सयोग होजाने पर दोनो मिल कर एक अंडे का आकार धारण करते हैं। अंडे के भीतर का कललरस विभागक्रम द्वारा अनेक कणो मे विभक्त होजाता है। अंडे के फूटने पर ये कण बाहर निकल कर तैरने लगते है। थोड़े ही दिनों मे इन्हे पुछल्ले निकल आते है और ये पूरे जंतु होकर इधर उधर तैरते फिरते है। इन पुछल्लेवाले जीवों का शरीर सर्वत्र समान नहीं होता, सूक्ष्म त्वक् और पुछल्ले के अतिरिक्त आहार-मिश्रित जल के प्रवेश के लिये एक विवर भी होता है जिसे मुँह कह सकते है।

जीवोत्पत्ति का आरंभ, मोनरा और अमीबा के समान अत्यंत सादे ढाँचे के कललविंदु रूप अणुजीवों से हुआ जिनके

शरीर का सारा भाग बाह्य भूतो के भिन्न भिन्न प्रकार के संपर्कों को समान रूप से ग्रहण करता था, प्रत्येक भाग प्रत्येक व्यापार कर सकता था। फिर असंख्य पीढियों के पीछे होते जाते यह हुआ कि जिस भाग पर स्थिति के अनुसार संपर्क अधिक हुआ उसमें अभ्यास के कारण संपर्क अधिक ग्रहण करने की विशेषता उत्पन्न हुई। इस गुणविकाश के साथ ही उस भाग की आकृति में भी परिवर्त्तन हुआ। जैसे,मोनरा का शरीर जल में पड़े हुए गर्भाण्ड के समान सर्वत्र एकरूप था और उसपर चारों ओर बाह्यभूतों के आण्वात्मक प्रवाहो का आघात पड़ता था। यह आघात पहले ऊपरी सतह पर पड़ कर तब भीतरी कललरस की कणिकाओ पर प्रभाव डालता था। अत स्थिति के अनुसार जिसने उक्त आघात का ग्रहण अधिक किया उसके ऊपरी तल में और कललरस के भीतरी कणो की रचना में भौतिक और रासायनिक नियमो के अनुसार विशेषताऐं उत्पन्न होने लगी। ये विशेषताएं बराबर वृद्धि को प्राप्त होती गई यहाँ तक कि अमीबा का प्रादुर्भाव हुआ जिसके ऊपर झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच एक गुठली तथा फैलने और सुकड़नेवाला एक खाली स्थान होता है।

बहुत से अणुजीव मिल कर एक समूहपिंड या छत्ता सा बना लेते हैं। समूहचक्र में बद्ध रहने पर भी प्रत्येक जीव अलग अलग कीटाणु होता है, सब मिल कर एक जीव या एक शरीर नहीं हो जाते। ये समूहपिंड या चक्र इस प्रकार बनते हैं। चक्रबद्ध अणुजीवो में जो वृद्धि-विधान होता है उसः

मे मोनरा और अमीबा के समान पूरा विभाग नहीं होता। एक अणुजीव का शरीर जब दो भागों में विभक्त होने लगता है तब मोनरा या अमीबा के समान दोनो भाग अलग अलग नहीं हो जाते, कललरस के एक सूत्र द्वारा एक दूसरे से लगे रहते हैं। फिर वे दोनों भाग अपनी पूरी बाढ़ पर पहुँचने पर उसी प्रकार दो दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। इसी क्रम से एक जीव से अनेक जीव हो जाते हैं जो एक दूसरे से लगे रहते हैं। इस प्रकार के समूहचक्र के कीटाणु सब एक ढाँचे के होते हैं और प्राय. अलग अलग कोशो में रहते हैं।

समूहचक्र या छत्ते की योजना के अतिरिक्त एक और भी घनिष्ट और गूढ़तर योजना होती है जिससे एक शरीर या समवायपिंड की उत्पत्ति होती है। इसमें बहुत से अणुजीव-रूप घटक मिल कर एक शरीर या जीव हो जाते हैं। अणु जीवो को छोड़ और सब प्राणियों के शरीर बहुत से घटको की ऐसी ही गूढ़ योजना से बने हैं। बड़े से बड़े जीवो का शरीर वास्तव में घटको या अणुजीवों की एक ऐसी सुव्यवस्थित बस्ती है जिसमें एक प्रकार की एकता आ गई है। शरीर संघटित करने में घटकों की जो योजना होती है उसमे सब घटक मिल कर एक ततुपटल के रूप मे हो जाते है और भिन्न भिन्न भागों में कार्य्यानुसार भिन्न भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। जंतुओं की पेशियाँ, हड्डियाँ, नसे, शिराएँ, संवेदन-सूत्र इत्यादि सब अणुजीवरूप घटकों की योजना से संघटित हैं।

आरंभ में अणुजीवरूप घटक मिल कर झिल्ली के रूप मे

हुए अतः सब से सादे और आदिम कोटि के बहुघटक जीव दुहरी या तिहरी झिल्ली के कोश के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। स्पंज या मुर्दा बादल इसी प्रकार के जीव हैं। ये समुद्र की चट्टानों आदि पर जमे रहते हैं, चल फिर नहीं सकते और कई प्रकार के होते है। स्लेट पोछने के लिये लड़के जो स्पज रखते हैं उसे बहुतो ने देखा होगा। स्पंज का शरीर छिद्रमय कोश मात्र होता है जिसके भीतर बहुत सी नलियॉ होती है। सूक्ष्म जीवों से पूर्ण जल मुखविवर से हो कर भीतर जाता है और नालियो के द्वारा चारो ओर घूम कर सारे घटकों का पोषण करता है। इन नलियो के अतिरिक्त और अलग अलग अवयव नही होते और ये नालियॉ भी भिन्न भिन्न कार्य्यों के लिये भिन्न भिन्न नहीं होतीं, सब समान रूप से जलवहन का कार्य्य करती हैं। ऐसा नही होता कि पाचन के लिये अलग नलियॉ हा और जलप्रवाह के लिये अलग। स्पंजो की वंशवृद्धि-अमैथुन विधान से भी होती है और मैथुन-विधान से भी। जिन निम्न कोटि के स्पंजो की वृद्धि अमैथुनविधान से होती है उनके शरीर पर कुड्मल या अंकुरविंदु उत्पन्न होते है जो अलग होकर वढ़ते और पूरे जीव हो जाते हैं। बतलाने की आवश्यकता नही कि ये कुड्मल स्वतंत्र घटक होते है जो विभागपरंपरा द्वारा एक से अनेक होकर शरीर की योजना करते हैं। मैथुनविधान वाले स्पंजो में पुं० घटक और स्त्री घटक एक ही जीव के भीतर होते हैं (उसी प्रकार जैसे अधि- कांश पौधो में गर्भकेसर और परागकेसर एक ही फूल मे होते है)। पुं० घटक फूट कर अनेक कणों मे विभक्त हो जाता है।

एक एक कण बढ़ कर पुछल्लेदार कीटाणु (जैसा कि शुक्र-कीटाणु होता है) हो जाता है। स्त्रीघटक बढ़ कर गर्भांड के रूप मे हो जाता है। स्पंज के शरीर के भीतर ही पु० कीटाणु गर्भांडरूप कीटाणु मे प्रवेश करता है। संयोग के उपरांत एकीभूत पिंड भीतर ही भीतर कुछ काल तक बढ़ता है, फिर बाहर निकल कर डिम्भकीट के रूप मे रोइयो के सहारे जल मे तैरता फिरता है और अंत मे किसी चट्टान पर जम कर बढते बढ़ते स्पंज के रूप में हो जाता है।

स्पज से उन्नत कोटि के जीव छत्रक, मूँगे आदि होते है जिनके शरीर में अवयवविधान कुछ अधिक होता है। उनके मुखविवर के नीचे एकबारगी खाली जगह नहीं पड़ती बल्कि नली के आकार का एक स्रोत थोड़ी दूर तक होता है, पक्वाशय अलग होता है, शिकार पकड़ने के लिये बहुत सी भुजाएँ होती है।

छत्रक कृमि की उत्पत्ति विलक्षण रीति से होती है। समुद्र या झील आदि मे लकड़ी के तख्तो या चट्टानो पर रुई की तरह कोमल एक प्रकार के कृमियो का समूहपिंड जमा मिलता है जो देखने मे बिल्कुल पौधे के आकार का होता है। इसे खडबीज कहते हैं क्योकि यदि इसके कई खंड कर डाले तो प्रत्येक खंड बढ़ कर पूरा कृमिपिंड हो जाता है। इसके प्रधान कांड मे से जगह जगह शाखाएँ निकली होती है जो सिरे पर चौड़ी हो कर गिलास के आकार की होती है। इसी गिलास के भीतर असली कृमि बंद रहता है, केवल उसकी सूत की सी भुजाएँ इधर उधर बाहर निकली होती हैं। अचरपिंड मे बद्ध रहने वाले ये कृमि केवल नली के आकार के होते हैं।

इनमे संवेदनसूत्र और इंद्रियाँ आदि नहीं होती, संवेदन शरीरभर में होता है। पर कुछ शाखाओ के सिरो पर कुड्मलो का गुच्छा सा होता है। जब कुड्मल अपनी पूरी बाढ़ को पहुँच जाता है तब एक स्वतंत्र जीव हो कर कांड से अलग हो जाता है और चर जंतु के रूप में इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रक कृमि कहते है। यह खुमी (छत्राक) के छाते के आकार का होता है और इसके चारो ओर चाबुक के आकार की लंबी लंबी भुजाएँ निकली होती है। इसके पेटे (नतोदर भाग) के बीचोबीच एक चोगा सा निकला होता है जिसके सिरे पर मुँह होता है। इस चोगे की जड़ से कई नलियाँ छाते की तीलियों की तरह निकल कर उस नली से मिली होती हैं जो मँडरे पर मंडलाकार होती है। मुहँ के भीतर जो भोजन जाता है वह चोगे के भीतर पच कर नलियो के द्वारा सारे शरीर मे फैल कर पोषण करता है। मँडरे पर से जो भुजाएँ निकली होती हैं उनमे से आठ ऐसी होती है जिनके मूल मे एक एक सूक्ष्म गुठली सी होती है जिसे हम संवेदनग्रंथि कह सकते है। इन इंद्रियो या अवयवो से दिशा का ज्ञान होता है। सारांश यह कि छत्रक कृमि अपने जनक खडबीज कृमि से बहुत अधिक उन्नत होता है। इसमे नेत्रबिंदु के भी आभास होते हैं, संवेदन-ग्रंथियो का भी विधान होता है। खडबीज कृमि मे स्त्री पुं० विधान नही होता, कुड्मल विधान होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। पर उसी से उत्पन्न छत्रक कृमि मे स्त्री पुं० अलग अलग होते है। नर के शुक्रकीटाणु जल मे छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा

मादा के गर्भाशय मे जा कर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। गर्भाधान के उपरांत गर्भकीटाणु शीघ्र डिंभकीट के रूप मे प्रवर्द्धित हो कर अलग हो जाते हैं और कुछ दिनो तक जल मे तैरते फिरते है। पीछे किसी चट्टान, लकड़ी क तख्ते आदि पर जम जाते है और धीरे धीरे बढ़ कर पूरे खंडबीज कृमि हो जाते है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन्हीं खंडबीज कृमियो से फिर छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खडबीज कृमि से छत्रक की उत्पत्ति और छत्रक से खंडबीज कृमि की उत्पत्ति होती है। प्रजनन के इस विधान को इतरेतर जन्म या 'योन्यंतर विधान' कहते है।

छत्रक कृमि से बारीक ढाँचा उन चिपटे केचुओ का होता है जो कुछ रीढ़वाले जंतुओ के यकृत और अँतड़ियो मे होते है। भेड़ के यकृत मे पत्ती के आकार का जो चौडा चिपटा कीड़ा होता है उसके शरीर की ओर ध्यान देने पर दहने और बाये दो सम-विभक्त पार्श्व स्पष्ट दिखाई देगे। कल्पित विभाग-रेखा के दोनो ओर बिंब प्रतिबिंब रूप से प्राय: एक ही प्रकार के ढाँचे पाए जायँगे। इस प्रकार की रचना को अर्द्धांग-योजना कहते हैं। कीड़े का अगला भाग चौड़ा होता है जिसके बीचोबीच निकली हुई नोक पर मुँह होता है। मुख की ओंठ पर एक मांसल छल्ला सा होता है जिसके द्वारा यह जंतुओ के यकृत की दीवार से चिमटा रहता है। मुख की ओंठ से थोड़ा और पीछे हट कर पेटे की ओर एक दरार सा होता है जो जननेंद्रिय का मुख है। इसी के बीचोबीच एक तुंड या ठोंठी सी होती है जो पुं० जननेंद्रिय

है। शरीर के पिछले छोर पर एक मलवाहक छिद्र होता है। मुख के भीतर थोड़ी दूर तक कंठनाल होती है जो आंतो से जा कर मिली होती है। आंते इसकी अनेक शाखाओ में विभक्त होती है जिनमे काले रंग का रस या पित्त भरा होता है। यह पित्तरस उसी जंतु के यकृत का होता है जिसके भीतर यह कीड़ा पलता है। उसी के पित्त और उसमे मिले हुए द्रव्य से इस कीड़े का पोषण होता है। अंत्रविधान दहनी और बाईं दोनो ओर का अलग अलग होता है। आंतो से मिला हुआ कोई गुदद्वार नही होता, मुख ही एक द्वार होता है। आंतो के अतिरिक्त जलवाहक नलियो का पूरा जाल होता है। सब से बढ़ कर बात तो यह कि संवेदनसूत्रो का विधान होता है। कंठनाल के पास भेजे का छल्ला सा होता है जिसे हम मस्तिष्क का सादा रूप कह सकते हैं। इसी छल्ले से संवेदनसूत्र पीछे की और गए रहते हैं जिनमे दो सूत्र प्रधान है जो दहने और बाएं दोनो ओर होते है। देखने सुनने आदि के लिये अलग अलग इंद्रियां नही होती।

अब इसकी प्रजनन-प्रणाली पर भी थोड़ा ध्यान दीजिए। स्त्री पुं० जननेंद्रियाँ एक ही कीड़े मे होती है। पुं० जननेंद्रिय मे अडकोश-नलिकाएँ, शुक्रवाहिनी नलियाँ और शिश्न और स्त्री जननेंद्रिय मे डिंभकोश, गर्भनाली, योनिमुख, अंडपोषक रस की ग्रंथियाँ और नलियाँ होती हैं। शुक्रकीटाणु द्वारा गर्भित होने पर गर्भांड पोषक रस से घिर जाता है और फिर एक छिलके के भीतर बंद हो जाता है। बढ़ चुकने पर यह अंडा अँतड़ियो मे होता हुआ बाहर निकल जाता है और कुछ दिनों मे

रोईदार लंबे डिंभकीट के रूप में हो जाता है जिसमे सिर की ठोठ और दो नेत्रविंदुओं के अतिरिक्त कोई और भीतरी अवयव नही होता। यदि यह जल मे पहुँचा तो कुछ काल तक तैरता फिरता है और यदि तर घास के बीच पहुँचा तो रेगता फिरता है। यदि इसे घोघा मिल गया तो यह उसके भीतर अपने सिर के बल घुस जाता है और भीतर ही भीतर बढ़कर लंबी थैली के आकार का हो जाता है। कुछ काल मे इस थैली के भीतर घटकगुच्छ उत्पन्न होजाते हैं। इस घटक-गुच्छ के घटक विभागक्रम द्वारा बढ़कर पुछल्लेदार कीटों के रूप मे होजाते है और घोघे के शरीर से बाहर निकल कर घास की पत्तियो पर चिमट जाते है। पत्तियो को जब भेड़ खाती है तब ये उनके यकृत मे पहुँच जाते है और चौड़े चिपटे यकृतकीट के रूप मे हो जाते हैं। इन कीटो से कुछ उन्नत रचना मनुष्य के पेट मे रहनेवाले लंबे केचुओ की होती है। एक प्रकार के और केचुए होते हैं जो जंतुओ के शरीर के भीतर नहीं होते, अधिकतर समुद्र मे पाए जाते हैं। इन्हे मुँह और आंतो के अतिरिक्त रक्तवाहिनी नाड़ियाँ भी होती हैं। संवेदनग्राही अवयवो का विधान भी और केंचुओ से उन्नत होता है। भेजे के छल्ले के स्थान पर दो बड़ी संवेदन-ग्रंथियाँ होती है जिन्हे हम मस्तिष्क कह सकते हैं। इसी मस्तिष्क से दो मोटे संवेदन-सूत्र पीछे की ओर शरीर की लंबाई तक गए रहते हैं। आँखे भी होती हैं।

प्राणियो मे इंद्रियो का विधान किस प्रकार हुआ ? पहले कहा जा चुका है कि अत्यंत आदिम कोटि के क्षुद्र जीवो मे

प्रकाश, शब्द, तथा स्थूल पदार्थों का गृहण ऊपरी त्वक् पर सर्वत्र समान रूप से होता है। ऊपरी त्वक् सर्वत्र समान रूप से संवेदनग्राही होता है। क्रमशः ऊपरी त्वक् पर विभिन्नताएँ उत्पन्न होने लगीं। कुछ स्थानो में दूसरे स्थानो से कुछ विशेषता प्रकट होने लगी अर्थात् कुछ स्थान वाह्य विषय-संपर्क को विशेष रूप से गृहण करने लगे। क्रमशः अभ्यास द्वारा ये स्थान संपर्कगृहण मे अधिक तीव्र होते गए जिससे वाह्य विषयो का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता गया। वाह्य विषयो के अधिक संयोग से उन स्थानो की बनावट मे भी कुछ विशेषता आने लगी। फल यह हुआ कि संवेदनग्राही घटक अलग होगए। उनसे संवेदनसूत्रो की योजना हुई। वाहरी त्वक् पर जहाँ कहीं प्रकाश, शब्द, स्थूल पदार्थ आदि का सपर्क हुआ कि इन्हीं सूत्रो के सहारे उसका संवेदन सारे संवेदनसूत्रजाल में दौड़ गया। क्रमशः इन संवेदनसूत्रो का एक केंद्रस्थल ग्रंथि के रूप मे उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्मग्रंथि कहते है। यही केंद्रस्थान बड़े जीवो का मास्तिष्क है। वाह्य विषय भिन्न भिन्न प्रकार के होते है और उनका ग्रहण भी भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। अतः वाह्य त्वक् के संवेदन-ग्राही स्थानों मे भी क्रमश. भेदविधान होने लगा। एक स्थान एक प्रकार का विषय गृहण करने मे अधिक तीव्र होता गया, दूसरा दूसरे प्रकार का। होते होते यहाँ तक हुआ कि एक प्रकार के विषय का गृहण एक ही निर्दिष्ट स्थान पर होने लगा जिस से भिन्न भिन्न इंद्रिय-गोलको का विकाश हुआ जो पहले त्वक् की परतो से बने

हुए सादे कोशो के रूप मे ही प्रकट हुए। जिस स्थान पर अणुप्रवाह के योग से उस रासायनिक क्रिया का विधान होने लगा जिससे गंध का अनुभव होता है वहाँ घ्राणेंद्रिय (नाक) की उत्पत्ति हुई। जहाँ वह रासायनिक क्रिया होने लगी जिससे स्वाद का अनुभव होता है वहाँ रसनेंद्रिय का विधान हुआ। इसी प्रकार जहाँ आलोकग्रहण की ही भौतिक क्रिया बराबर होने लगी वहाँ उस जटिल यंत्र का विधान हुआ जिसे आँख कहते है और जिसके द्वारा पदार्थों के आकृतिबिंब का ग्रहण होता है। विशेष प्रकार की वायुतरंगो का ग्रहण जहाँ होने लगा वहाँ कानो की रचना हुई। इन इंद्रियों मे सूक्ष्म से सूक्ष्म सपर्क के ग्रहण की शक्ति का विकाश देखा जाता है। घ्राणेंद्रिय द्रव पदार्थ के अणु के २०००,०००, ००० वे भाग तक का अनुभव कर सकती है। चक्षुरिंद्रिय एक मिनट मे सवा करोड़ मील के लगभग चलनेवाली आलोकतरंग का ग्रहण करती है।

अब तक जिन क्षुद्र जंतुओ का वर्णन हुआ है उनका शरीर यहाँ से वहाँ तक एक होता है, खंडो मे विभक्त नही होता। उनसे उन्नत कोटि के बहुखंड कीट होते है जिनका शरीर बहुत से जोड़ो से मिल कर बना जान पड़ता है, जैसे, मिट्टी के केचुए, जोक, कनखजूरे, केकड़े, भिड़, गुबरैले, फतिंगे, चीटियाँ इत्यादि। जंतुओ की बनावट मे ध्यान देने की बात यह है कि मुख ही एक ऐसा द्वार है जिससे पहले पहल बाह्य जगत् का संपर्क होता है अतः उसी के पास मुख्य इंद्रियो का विधान होता है। जो भाग क्रिया मे अधिक तत्पर

होता है उसी मे उस क्रिया-संपादन के अनुकूल विधान होते हैं। अतः इन बहुखंड जंतुओ मे जो बहुत सादे ढाँचे के होगे उनमे भी सिर अलग दिखाई देगा जिसमे आँख, कान आदि इंद्रियद्वार होगे और भीतर संवेदन का केंद्रस्वरूप मस्तिष्क या ग्रंथि होगी जिससे संवेदनसूत्र पीछे की ओर को गए होगे। इन कीड़ों के हृदय भी होता है जो लंबी नली के आकार का और पीठ की ओर होता है (छाती की ओर नही जैसा कि रीढ़वाले बड़े जीवो का होता है)। बहुखड कीटो के, साधारणतः दो विभाग किए गए हैं—अपाद और सपाद। मिट्टी के केचुए, जोक आदि अपाद कीटो मे है और झिगा, केकडा, कनखजूरा, गुबरैला, चीटी इत्यादि सपाद कीटो मे है। सपाद कीटो मे षट्पद या पतंग कुल के कीट सब से अधिक उन्नत होते है। चीटी, तितली, गुबरैला, टिड्डी, फतिगा, किलनी, भौरा, मक्खी इत्यादि इनके अंतर्गत है। इनमे कुछ को पूरे पर निकलते है (जैसे तितली, गुबरैला, टिड्डी) कुछ को अधूरे और कुछ को निकलते ही नहीं (जैसे, किलनी)। कुछ ऐसे भी होते है जिनमे नर और मादा मे से किसी एक को पर होते है, दूसरे को नहीं।

ध्यान पूर्वक देखने से पतंगकुल के कीटो का शरीर तीन खंडो मे विभक्त दिखाई पड़ता है—सिर, वक्ष और उदर। किसी किसी कीट (जैसे, भिड़) मे तो ये खंड केवल एक पतले तागे से जुड़े मालूम होते है। ये तीनो खड भी कई जोड़ो से मिल कर बने होते हैं। सिरवाले खंड मे मुँह पर पकड़ने, काटने या रस चूसने के लिये टूँड़ और आर होते

हैं। वक्ष मे जो तीन टुकड़े होते हैं उनमे से प्रत्येक मे टाँगो का एक एक जोड़ा होता है। टाँगो के अतिरिक्त दोनो ओर पर भी होते हैं। उदरखंड मे टाँगे आदि नही होती, छोर पर डंक तथा अंडवाहक अवयवो का विधान होता है। मुख के भीतर जो स्रोत होता है उसमे कई नलियाँ और थैलियाँ होती हैं। पाचन के लिये कई कोठो की अलग थैली होती है जिसमे पाचनरस की ग्रंथियाँ होती है। यह थैली आँतो से मिली होती है। किसी किसी कीट मे इसी थैली से लगा हुआ एक और कोठा होता है जिसमे आरे की तरह के दाँत या दंदाने होते है। सिर के नीचे मस्तिष्क का अच्छा विधान होता है । बड़े कीटो के मास्तिष्क मे कई लोथड़े होते हैं जिनमे से एक पर आँखो का जटिल ढाँचा स्थित रहता है। इन कीटो की आँख की बनावट बड़ी विलक्षण होती है। एक डेले के अंतर्गत हजारों आँखे होती है । बड़ी मक्खी को बारह हजार आँखे होती है। बहुत से कीटो को इन यौगिक नेत्रो के अतिरिक्त सादी आँखे भी होती है और कुछ ऐसे होते है जिन्हे आँखे बिल्कुल नही होती। पतंगकुल के कीटो के संवेदन-सूत्र भी उन्नत कोटि के होते है, उनमे स्थान स्थान पर ग्रंथियाँ होती है।

पतंगकुल के कीटो मे कुछ ही ऐसे होते है जिनके बच्चों का आकार अंडे से निकलने पर पूरी बाढ़ के जीवो का सा होता है। अधिकांश कीटो मे कायाकल्प होता है अर्थात् अंडे से निकलने पर बच्चो मे पूरे कीटो का कुछ भी आकार नही होता। डिंभपिंड परिवर्तन की कई अवस्थाओ में हो कर तब पूरे अंग और अवयव प्राप्त करता है। भिड़, गुबरैले, तितली,

रेशम के कीड़े इत्यादि इसी प्रकार के जीव है । तितली को ही लीजिए। अंडे से निकलने पर उसका बच्चा एक लंबे ढोले या सूँड़े के आकार का होता है जिसके आगे की ओर छः जोड़दार पैर होते है और पीछे की ओर कई बेजोड़ के और भद्दे पैर होते है। चबाने के लिये जबड़े भी होते है। यह डिंभकीट कुछ काल तक इसी अवस्था मे पेड़ पौधो पर रेंगता फिरता है। इसके उपरांत यह सूत की तरह कात कर एक कोश बनाता है जिसके भीतर निश्चेष्ट और निःसंज्ञ हो कर यह बद हो जाता है और कुछ काल तक उसी अवस्था मे रहता है। कोश के भीतर ही इसका पूरा कायाकल्प होता है। कायाकल्प का काल जब पूरा हो जाता है तब यह सब अंग अवयवो से युक्त उड़नेवाली तितली हो कर निकल आता है।

पतंगकुल के कीट इस बात के प्रमाण है कि जटिल और उन्नत अवयवो का विधान छोटे से छोटे जीवो मे भी हो सकता है। हाथी का डीलडौल मनुष्य के डीलडौल से बहुत बड़ा होता है पर उसके बाह्य और अंतःकरण उतनी पूर्णता को प्राप्त नही रहते जितने मनुष्य के रहते है। बिना रीढ़वाले जतुओ मे पतंग सब से अधिक उन्नत इंद्रियवाले और बुद्धिमान् होते हैं। भिड़, मधुमक्खी, चींटी इत्यादि मे कैसी संचय-बुद्धि होती है, किस कौशल और व्यवस्था के साथ वे समाज बाँध कर रहती है। डारविन ने कहा है कि चींटी का मस्तिष्क, जो और कीड़ो के मस्तिष्क से बड़ा होने पर भी आलपीन की नोक का चौथाई भी नहीं होता, संसार मे सब से चमत्कार-पूर्ण द्रव्यकण है।

अधिकतर विद्वानो का मत है कि जिन जीवो का लालन पालन मातापिता द्वारा बहुत दिनो तक होता है अर्थात् जो बहुत दिनो तक मातापिता के स्नेह के आश्रित रहते हैं उनमे सहानुभूति और समाजबुद्धि का विकाश अधिक होता है, जैसे, बंदर, वनमानुस, मनुष्य आदि मे। चींटी तथा समाज बाँध कर रहनेवाले और कीट भी (जैसे, भिड़, मधुमक्खी आदि) गुबरैले की दशा में बहुत दिनो तक पलते है इसीसे उनमे इतनी संघ-बुद्धि पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संघबुद्धि का विकाश क्रमश. लाखो वर्ष की परंपरा के उपरांत हुआ है।

विना रीढ़वाले जंतुओ मे शुक्तिवर्ग के सीप, घोंघे, शंख आदि कोमलकाय जीव भी है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े होते है। इस वर्ग के सब से क्षुद्र कोटि के जीव चट्टानो आदि पर काई के समान जमे रहते हैं। अष्टपद ऐसे बड़े जीव भी इसी वर्ग मे है जो अपने चारो ओर फैली हुई बड़ी बड़ी भुजाओ (या पैरों) से बड़े बड़े जंतुओ को पकड़ लेते है। शुक्ति वर्ग के कुछ जीवों के कपाल, हृदय आदि अलग अलग अग नहीं होते। सीप को अलग सिर नहीं होता। इसी सीप के शरीर पर मोती होता है। एक प्रकार केचुओ के डिभ सीप के शरीर पर लग कर बंद हो जाते है। जहाँ जहाँ वे बद हो जाते हैं वहाँ वहाँ गोल चमकीले उभार (या फोड़े) पड़ जाते हैं जो काल पा कर मोती के रूप मे हो जाते है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्तिवर्ग के सब जीव जल-चारी है और उनके शरीर का ढाँचा उन्नत कोटि का नहीं होता,

बहुत सादा होता है। अष्टपद को छोड और किसीके शरीर के भीतर किसी प्रकार का ढाँचा (जैसा कि रीढ़वाले जंतुओ का अस्थिपंजर होता है) नहीं होता । पर उनमे शरीर के ऊपर एक कड़ आवरण की विशेषता होती है जो जल मे मिले हुए चूने आदि द्रव्यो के संग्रह से वनता है।

विना रीढ़वाले जंतुओ से रीढवाले जंतुओं मे किन किन बातो की विशेषता होती है यह देख लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि विना रीढ़वाले जतुओं मे पाचनक्रिया, रक्तसंचार और सवेदनकेद्र तीनो के लिये एक ही घट होता है तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा जो कुछ होता है ऊपर ही होता है। यह ढाँचा प्रायः आवरण के रूप मे होता है और कड़े पड़े हुए चमड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर रीढ़वाले जंतुओं मे दो अलग अलग घट होते हैं। छोटे वा कपालघट मे विज्ञानमय कोश का केद्र (अर्थात् मस्तिष्क और मेरुरज्जु) रहता है और मध्यघट मे पाचन और रक्तसंचार के करण (यकृत, आँत और हृदय) होते हैं तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा कड़ अस्थिपजर के रूप मे भीतर होता है। इस ढाँचे का सब से विलक्षण भाग है रीढ़ या मेरुदंड। रीढ़ हड्डी की गुरियो की वनी होती है जो लचीले सूत्रदंड (मेरुदंड के पूर्वरूप) के अवशिष्ट से परस्पर जुड़ी रहती है। वनावट की इस विशेषता के कारण सारी रीढ़ आवश्यकतानुसार लच और मुड़ सकती है जिससे रीढ़वाले जंतुओ को चलने, फिरने, उछलने, कूदने मे वड़ी आसानी होती है। मछलियो का झपटना, मेढको का कूदना,

साँपो का रेंगना, हिरन का चौकड़ी भरना, शेर का उछलना देखने से यह बात ध्यान मे आ सकती है। रीढ़वाले जंतुओं को सजीव हड्डियाँ होती है जिनके भीतर रक्त का संचार होता है। वे शरीर के कोमल भागो की रक्षा करती है। ढाँचे की इसी विशेषता के कारण ये विना रीढ़ के जतुओ से इतने वढ़े चढ़े होते है। वहुखंड कीटो के समान इनका शरीर भी दो समान पार्श्वों (दहने और बाएँ) मे बँटा होता है और कई खंडो के जोड़ से वना होता है। इनके शरीर के भी तीन विभाग होते है—सिर, वक्ष और उदर। पर चारी अंग (हाथ पैर) चार से अधिक नही होते अर्थात् उनका एक एक जोडा दोनो ओर होता है—चाहे वह मछली के मुख्य परो के रूप मे हो (इन जोड़ेदार परो के अतिरिक्त मछली के और छोटे छोटे पर होते है जिनका कोई हिसाव नहीं होता), चाहे चिड़ियो की टाँगो और डैनो के रूप मे, चाहे चौपायो के अगले और पिछले पैरो के रूप मे और चाहे मनुष्यो के हाथ पैर के रूप मे। इन सब जीवो के ढाँचे एक ही आदिम ढाँचे से क्रमश उत्पन्न हुए हैं।

विकाश-परंपरा के अनुसार बिना रीढ़वाले जंतुओ से ही क्रमश रीढ़वाले जंतुओ की उत्पत्ति हुई है। पहले बिना रीढ़-वाले और रीढ़वाले जंतुओ के वीच के जीव हुए होंगे जिनके शरीर के भीतर कुछ कुछ पंजराभास प्रकट हुआ होगा। इस प्रकार के कुछ अवशिष्ट जीव अब तक पाए जाते हैं। समुद्र मे थैली के आकार का एक जंतु होता है जो चट्टानो पर चिमटा रहता है। इसके एक मुँह और एक उत्सर्ग छिद्र होता

है। मुँह के नीचे साँस लेने की थैली होती है जिसमें बहुत से छेद होते हैं। यह थैली नीचे उदराशय से मिली होती है (जिसमे अँताड़िया होती हैं) और झुक कर उत्सर्गद्वार तक गई होती है। भीतर खींचा हुआ पानी अम्लजन या प्राणदवायु शरीर मे पहुँचा कर इसी द्वार से निकल जाता है। हृदय एक लंबी नली के आकार का होता है और शरीरघट के पिछले भाग मे स्थित होताहै। इसका विज्ञानमय कोश एक संवेदनग्रंथि मात्र होता है जो मुहँ और उत्सर्गद्वार के बीच मे रहती है। इस संवेदनग्रंथि की स्थिति से रीढ़वाले जंतुओ के साथ इसके संबध का पता लगता है। पर सब से बढ़ कर प्रमाण अंडे से निकलने पर इसकी वृद्धि के क्रम की ओर ध्यान देने से मिलता है। अंडे से जो डिंभकीट निकलता है वह मेढक के डिंभकीट (छुछमछली) से बिल्कुल मिलता है। दोनों मे उन चार विशेष अंगो का विधान होता है जो समस्त रीढ़वाले जंतुओ मे गर्भावस्था से लेकर किसी न किसी अवस्था मे पाए जाते है। चारो अंग ये है—(१) गला और गलफड़ो के छिद्र (२) मेरुदंडाभास, जो एक चिकने सूत्रदंड की तरह का होता है और रीढ़ का पूर्व रूप है। (३) मस्तिष्क और मेरुरज्जु तथा (४) दर्शनेंद्रिय जो मस्तिष्क के भीतर होती है। आँखवाले बिना रीढ़ के जंतुओ की दर्शनेंद्रिय का सवेदन-पटल (प्रकाश ग्रहण करनेवाला भाग) ऊपरी त्वक् से ही उत्पन्न होता है। डिंभकीट अवस्था से आगे चल कर इस समुद्रजंतु और मेढक के डिंभकीट एक दूसरे से भिन्न अवस्था को प्राप्त होते हैं। मेढक का डिंभकीट तो छुछमछली की

अवस्था से जलस्थलचारी जंतु हो जाता है, गलफड़ों के स्थान पर सांस लेने के लिये उसे फफड़ा उत्पन्न हो जाता है, दुम उसकी गायब हो जाता है और चार पैर निकल आते हैं। अर्थात् जलचर मछली के रूप से जलस्थलचारी मेंढक के रूप में आने में मेंढक के प्राचीन पूर्वजो ने जिन अवस्थाओं को पार किया है मेंढक के डिंभवृद्धिक्रम में उनकी संक्षिप्त उद्धरिणी देखी जाती है। पर उक्त समुद्रजंतु का डिंभकीट आगे चल कर भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है।, उसकी दुम, मेरुरज्जु संवेदनरज्जु और आंख गायब हो जाती है, मस्तिष्क छोटा सा रह जाता है, गलफड़ों के छिद्र अधिक होजाते है, त्वक कड़ा हो जाता है और अंत में वह बिना हाथ पैर और आँख का थैली के आकार का जंतु होकर अचल पौधे की तरह किसी चट्टान आदि पर जम जाता है और वहीं पौधे की तरह पर उसका पोषण होता है।

थैली के आकार के समुद्री जन्तु से कुछ उन्नत कोटि का एक और जन्तु होता है जिसे अकरोटी मत्स्य (बिना सिर की मछली) कहते हैं। यह देखने में जोंक की तरह का एक झलझलाता हुआ कीड़ा होता है जिसे सिर नहीं होता और आँख भी एकही होती है। इसके मुहँ पर खड़े खड़े सूत से होते है जिसके द्वारा यह खाद्यपूर्ण जल भीतर लेता है। यह जल मुहँ के नीचे चौड़ी गलनाल में जाकर प्राणदवायु प्रदान करता हुआ उत्सर्गद्वार से होकर निकल जाता है। कोई हृत्पिंड न होने के कारण रक्त का संचालन नलियो के आकुंचन द्वारा होता है। इस जन्तु की गिनती रीढ़वाले प्राणियो मे की गई है क्योंकि

इसे रीढ़ के स्थान पर एक सूत्रदंड होता है जिसके ऊपर यहाँ से वहाँ तक एक संवेदनसूत्र होता है जो मुँह के पास जा कर कुछ निकला सा होता है। ऊपर थैली के आकार के जिस समुद्रजन्तु का उल्लेख हो चुका है उसकी संवेदनग्रन्थि यदि लंबी कर दी जाय तो इसके और उसके संवेदनविधान बिलकुल एक से हो जायँ। इससे सिद्ध होता है कि दोनो एक ही पूर्वज जन्तु से निकले है।

अब हम मछलियो को लेते है जो रीढ़वाले जन्तुओ मे सब से सादे ढॉचे की समझी जाती है। इनमे जो आदिम कोटि की होती है जैसे शार्क आदि उनके भीतर कड़ी हड्डियॉ नहीं होती। नरम हड्डी की रीढ़ होती है और पीठपर ढालदार खोलड़ी होती है जिस पर चौखूँटे उभरे हुए खाने कटे होते है। और मछलियो के भीतर कड़ी हड्डियो का ढॉचा होता है। मछलियो को साँस लेने के लिए फुप्फुस या फेफड़ा नही होता, वे गलफड़ो से साँस लेती है। मछलियो से ही विकाशपरंपरानुसार क्रमशः मेढक आदि जलस्थलचारी जन्तु उत्पन्न हुए है। जिस प्रकार बिना रीढ़वाले जन्तुओ और रीढ़वाले जन्तुओ के बीच के जन्तुओ के कुछ नमूने अब तक पाए जाते है उसी प्रकार जलचर मत्स्यो और जलस्थलचारी जन्तुओ के मध्यवर्ती जन्तु भी अब तक मिलते है। मछलियो का एक भेद होता है जो उभयश्वासी कहलाता है। उभयश्वासी मछलियो को साँस लेने के लिए गलफड़े भी होते है और एक हवा की थैली भी जो फेफड़े का काम देती है। इससे ये मछलियाँ पानी में भी साँस ले सकती हैं (अर्थात् जल मे मिली हुई अम्लजन वा

प्राणदवायु ग्रहण कर सकती हैं) और पानी के बाहर जमीन पर भी। ऐसी दो मछलियाँ पाई गई हैं—एक दक्षिण अमेरिका में और एक आस्ट्रेलिया मे। इन दोनों के पर नहीं होते, पर के स्थान पर चार लंबे लंबे अंकुर से होते हैं जिन्हें पैरो का पूर्वरूप समझना चाहिए। ये जमीन पर बहुत देर तक रह कर साँस ले सकती हैं। हिंदुस्तान की बाँग मछली भी बहुत देर तक पानी के बाहर रह सकती है।

इस प्रकार जलचारी और स्थलचारी जंतुओ के मध्यवर्त्ती उभयचारी जतुओ तक हम पहुँचते है जिनमे सब से अधिक ध्यान देने योग्य है मेढक। अंडे से फूटने पर मेढक का डिंभकीट मछली के रूप मे आता है, जल ही मे रहता है, गलफड़े से साँस लेता है और घासपात खाता है। उसे लंबी पूँछ होती है, पैर नहीं होते। फिर धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ वह उभयचारी जतु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजो से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला, कीड़ेफतिंगे खानेवाला मेढक हो जाता है। उन्नत कोटि के समस्त रीढ़वाले प्राणी फेफड़े से साँस लेते हैं जो, जैसा ऊपर दिखाया गया है, गलफड़ो का ही क्रमशः समुन्नत रूप है।

उभयचारी जंतुओ से ही विकाशपरंपरा द्वारा सरीसृपों की उत्पत्ति हुई है। इस सरीसृपवर्ग के अंतर्गत साँप, छिपकली, गिरगिट, मगर, घड़ियाल इत्यादि बहुत से जंतु है। पृथ्वी के एक पूर्वकल्प मे इस वर्ग के बड़े बड़े भीमकाय जंतु होते थे। तीस तीस हाथ लंबी आरेदार छिपकलियाँ होती थीं जो हवा मे उड़ती थी। धीरे धीरे पृथ्वी पर ऐसे परिवर्तन

होते गए जो उनकी स्थिति के प्रतिकूल थे। इस प्रकार क्रमशः उनका लोप हो गया। अब भूगर्भ के भीतर उनकी ठटरियाँ कभी कभी मिल जाती हैं।

पंजेवाले सरीसृपो से पक्षियों की उत्पत्ति हुई। दोनो मे ढाँचे की बहुत कुछ समानता अब तक है—जैसे दोनो मे रीढ़ के साथ खोपड़ी एक ही जोड़ से जुड़ी होती है (दो जोड़ों के द्वारा नही जैसा कि अधिकांश उभयचरो तथा सब रीढ़-वाले जंतुओ मे होता है) और खोपड़ी के साथ जबड़े कुछ हड्डियो से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि वे बहुत अधिक खुल सकते है। पर इन समानताओ के होते हुए भी पक्षियो के ऊपरी और भीतरी ढाँचे मे बहुत कुछ परिवर्त्तन दिखाई पड़ते है जिनका विधान कई लाख वर्षों के बीच स्थिति के अनुसार क्रमशः होता गया है। सरीसृपो का तीन कोठो का हृदय पक्षियो से आ कर चार कोठो का हो गया जिससे शुद्ध ताजा रक्त शरीर में घूम कर लौटे हुए अशुद्ध रक्त से अलग रहने लगा और शरीर मे गरमी रहने लगी। सरिसृपो की केचुल या खोलड़ी और पक्षियो के पर दोनों ऊपरी त्वक् के विकार है। इसी प्रकार दूसरे जंतुओ के बाल, सुम और खुर भी त्वक् से ही उत्पन्न है, त्वक् के ही विकार है। इन्द्रियाँ भी ऊपरी त्वक् के ही विकार हैं। एक प्रकार के प्राणियो मे ही कुछ के ढाँचो मे किसके प्रभाव से ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न होती गई कि उनसे नए नए ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए? इसका सीधा उत्तर यही है कि बाह्य संपर्क के प्रभाव से। यह सोच कर आश्चर्य अवश्य होता है कि आदिम क्षुद्र अणुजीवों की सूक्ष्म झिल्ली से विज्ञानमय

कोशयुक्त उन्नत प्राणियो की कई परतो की विचित्र त्वचा का प्रादुर्भाव हुआ। पर यह भी समझना चाहिये कि यह बात दो चार दिनो मे तो हुई नहीं, कई लाख वर्षों के बीच लगातार प्रभाव पड़ते रहने से शनैः शनैः हुई है।

विकाशक्रम मे सरीसृपो से आगे होने के कारण पक्षियो का मस्तिष्क वड़ा होता है। उनमे बुद्धि का विकाश सरीसृपो से कहीं अधिक देखा जाता है। उनमे दृष्टि का विस्तार मनुष्यों से कहीं अधिक होता है। स्मरणशक्ति भी उनकी मनुष्य से बहुत बढ़ चढ़ कर होती है। हजारो कोस समुद्र पार के देशो से होकर एक छोटी सी चिड़िया फिर उसी पेड़ वा झाड़ी पर आ जाती है जिस पर पिछले वर्ष उसने घोंसला बनाया था।

पक्षियो से अब हम स्तन्य वा दूध पिलानेवाले जीवो की ओर आते है। आदिम रूप के स्तन्य जन्तु पक्षियो से कई बातो मे मिलते जुलते है। एक तो उन्हे दाँत नही होते, दूसरे हृदय और आँतों आदि सब के लिए एक ही कोठा होता है। इस प्रकार के जन्तु अब तक दो ही पाए गए हैं और दोनो आस्ट्रेलिया मे, एक तो बत्तख़-चूँस जिसे बत्तख़ की तरह कड़ी, चौड़ी चोच होती है और जिसके पंजो की उँगलियो के बीच झिल्लियाँ होती है; दूसरा चींटीखोर जो खरहे के इतना बड़ा होता है। ये दोनो जानवर अंडे देते है। अंडे से निकलने पर बच्चे माता का दूध पीकर पलते हैं। सरीसृपो, पक्षियों और स्तन्य जीवो के मध्यवर्त्ती इन जंतुओ के वर्ग को अंडज स्तन्य वर्ग कहते हैं। इस वर्ग से कुछ उन्नत वर्ग मे अजरायुज स्तन्य हुए जिनके दो नमूने अब तक मिलते हैं—आस्ट्रेलिया का

कँगारू और ओपोसम। ये यद्यपि पिंडज जंतु हैं पर इनके बच्चे पूरे बने हुए नहीं पैदा होते और बहुत दिनों तक माता उन्हे अपने पेट मे बनी हुई एक थैली मे रखती है। बाहर निकल कर डोलते हुए बच्चे किसी प्रकार की आहट पाने पर झट थैली मे घुस जाते हैं।

तीसरा वर्ग जरायुजो का है जो सब से अधिक उन्नत है और जिसके अंतर्गत कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े, बंदर, मनुष्य आदि हैं। इस वर्ग के जंतुओ मे जरायुज की विशेषता होती है जिसके द्वारा भ्रूण गर्भ मे ही बढ़ता और अपने आकार को पूर्ण करता है। इनके बच्चे सब अंगो से युक्त हिलते डोलते पैदा होते हैं। इन्हीं जरायुजो की एक शाखा किम्पुरुष है जिसके अंतर्गत बन्दर, बनमानुस और मनुष्य है। बिना पूँछ के बनमानुसो से मिलते जुलते पूर्वजो से ही क्रमश. विकाश-परम्परा द्वारा मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ जो भूमंडल के प्राणियो मे सब से श्रेष्ट है।

संक्षेप मे विकाश-सिद्धांत का यही सारांश है जिसे डार-विन ने जीवन भर लगातार श्रम करके अनेक प्रमाणो के संग्रह के उपरांत प्रतिष्ठित किया। डारविन के पीछे अनेक वैज्ञानिको ने अपने नए नए अनुसंधानो द्वारा इस मत को पुष्ट किया। भूगर्भ के भीतर अतीत युगो के जीवो के पंजरो की जो खोज हुई उससे इस संबंध मे बहुत सहायता मिली। एक वर्ग और योनि के जीवो से दूसरे वर्ग और योनि के जीवो का विधान एकबारगी तो हुआ नहीं, क्रमशः लाखो पीढ़ियों मे जाकर हुआ है। किसी योनि के कुछ प्राणियो मे स्थिति के अनुरूप औरो से कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हुई जो

पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती गई यहाँ तक कि लाखों वर्षों की अखंड परपरा के उपरांत उनका कुल ही अलग हो गया। इससे यह प्रकट है कि किसी एक ढाँचे के जीव से जब कि दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है तब ऐसे जीव भी अवश्य होने चाहिए जो दोनों के बीच के हों। ऐसे जीव कुछ तो अब तक वर्त्तमान हैं और कुछ के पंजर भूगर्भ के भीतर पाए गए हैं। विकाश-सिद्धांत के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सब के सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किए गए। डारविन ने यह दिखा कर कि एकही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है स्थिर-योनि सिद्धात का पूर्णरूप से खंडन कर दिया।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म आदिम अणुजीवों से उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति की जो परम्परा स्थूल रूप से ऊपर दिखाई गई है उसकी संक्षिप्त उद्धरणी प्रत्येक प्राणी के भ्रूण के वृद्धि-क्रम में देखी जाती है। जिस प्रकार सृष्टि के करोड़ों वर्षों के इतिहास में एक रूप के जीव से क्रमशः दूसरे रूप के जीव की उत्पत्ति होती आई है इसी प्रकार प्रत्येक जीव का भ्रूण गर्भ के भीतर या बाहर एक रूप से दूसरे रूप में तब तक आता रहता है जब तक उसका सारा ढाँचा अपने माता-पिता के अनुरूप नहीं हो जाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी जंतु का भ्रूण समूचा शरीर बनने के पहले जिस क्रम से एक के उपरांत दूसरा रूप उत्तरोत्तर प्राप्त करता है वह प्रायः वही क्रम है जिस क्रम से पृथ्वी पर एक ढाँचे के जीव से

दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए हैं । मेढक को लीजिए जो उभयचारी (जलस्थलचारी) जीव है । पहले दिखाया जा चुका है कि जलचर मत्स्यो से क्रमशः उभयचर जन्तुओ की उत्पत्ति हुई है । अंडे से निकलने पर कुछ दिनो तक मेढक के बच्चे मछली के रूप मे रहते है, फिर मेढक के रूप मे आते है । पिंडवृद्धि का यह विधान मेढक मे गर्भ के बाहर होता है इससे हम लोग देख सकते है । पर बड़े जीवो मे पिंडवृद्धि का सारा विधान गर्भ के भीतर होता है—जिस क्रम से सृष्टि के बीच आदिम एकघटक अणुजीवो से आरंभ हो कर एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है उसी क्रम से गर्भस्थ पिंड एक रूप से दूसरा रूप तब तक उत्तरोत्तर प्राप्त करता जाता है जब तक वह उस जंतु का पूरा आकार प्राप्त नही कर लेता जिसका वह भ्रूण होता है । गर्भ-परीक्षा द्वारा यह बात देखी जा सकती है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि एकघटक अणुजीवो से बहु-घटक जीवो की उत्पत्ति हुई । पहले अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवो मे सब घटक सब प्रकार के कर्म और संवेदन-व्यापार करते थे । पर क्रमशः कार्य्यविभाग द्वारा घटको मे विभिन्नता आती गई । कुछ घटक एक प्रकार के व्यापार करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार के । इस प्रकार उनके ढाँचे भी एक दूसरे से भिन्न हुए । आंख के घटक, कान के घटक, नाक के घटक, नाड़ियों के घटक, आँतो के घटक, संवेदनसूत्रो के घटक, मस्तिष्क के घटक भिन्न भिन्न प्रकार के होते है । स्पंज आदि उत्यन्त क्षुद्र कोटि के जीवो मे स्त्री घटक और पुं० घटक एक ही प्राणी के

शरीर मे होते हैं। आगे चल कर जो उनसे उन्नत कोटि के जीव हुए उनमे नर और मादा अलग अलग हुए। नर मे पुं० घटक और मादा में स्त्री घटक रहते हैं। पुरुष के शुक्रकीटाणु और स्त्री के रजःकीटाणु इसी प्रकार के घटक है। शुक्रकीटाणु अत्यंत सूक्ष्म होते है। एक बूँद वीर्य्य मे लाखों होते है। ये पुछल्ले-दार होते है। रजःकीटाणु इनसे बडे होते है अर्थात् एक इंच के १२५ वे भाग के बराबर होते हैं। समुद्र मे पाए जाने वाले पुछल्लेदार अणुजीवों का पहले वर्णन हो चुका है जो तरु-णावस्था प्राप्त होने पर दो भिन्न प्रकार के पिडो मे विभक्त हो जाते है एक पुं० कीटाणुचक्र और दूसरा गर्भांड। पुं० कीटाणु चक्र का प्रत्येक पुछल्लेदार कीट मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली आदि के शुक्र-कीटाणु से मिलता जुलता होता है। गर्भांड जल में छूट कर उसी प्रकार अचल रहता है जिस प्रकार प्राणियो के गर्भ के भीतर का रजःकीट या गर्भांड। जल के भीतर किस प्रकार कीटाणुचक्र के कीट और गर्भांड का संयोग होता है यह पहले दिखाया जा चुका है। बहुत से कीट जल मे अपने पुछल्लो को लहराते हुए गर्भांड को जा घेरते है जिनमे मे कोई एक गर्भांड के भीतर प्रवेश कर जाता है। यही गर्भांड का गर्भित होना कहा जाता है। जैसा संयोग उक्त अणुजीवो मे बाहर होता है ठीक वैसा ही मनुष्य आदि प्राणियो मे गर्भाशय के भीतर होता है। मनुष्य के ही गर्भ को लीजिए।

गर्भाशय के भीतर जब शुक्रकीटाणु गर्भांड मे प्रवेश कर जाता है तब दोनों मिलकर एक घटक हो जाते है जिसे अंकुरघटक कहते हैं। यह कललरसपूर्ण एक सूक्ष्म कणिका मात्र (एक

इंच के १२५ वे भाग के बराबर) होता है। एकघटक अणुजीवों के समान इसकी वृद्धि भी विभाग द्वारा उत्तरोत्तर होती है। कुछ काल तक तो सब घटक एक गुच्छे के रूप मे होते है, फिर सब बाहरी सतह पर आकर एक झिल्ली के रूप मे मिल जाते हैं और भीतर खाली जगह पड़ जाती है। इस प्रकार एक झिल्ली का खोखला गोला सा बन जाता है। थोड़े ही दिनो में इस गोले की झिल्ली एक ओर से पचक कर धँसने लगती है जिससे दोहरी झिल्ली का एक कटोरा सा बन जाता है। इसको "द्विकल घट" कहते है जिससे क्रमश. सब अंगो और अवयवो का विधान होता है। बाहरी कला या झिल्ली से ऊपरी त्वक् की और संवेदनसूत्रो से संघटित मनोविज्ञानमय कोश की रचना होती है और भीतरी झिल्ली से अन्त्रावलि आदि का प्रादुर्भाव होता है। द्विकलघट के भीतर के खाली स्थान को पेट का आदिम रूप समझना चाहिए और उसके सादे छिद्र को मुँह का। हैकल ने सूचित किया कि यही द्विकलघट सब बहुघटक प्राणियो का आदिम रूप है। इसी से विकाश परम्परानुसार सब बहुघटक प्राणियो की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने स्पंज आदि अब तक पाए जानेवाले द्विकलात्मक सादे जीवो की ओर ध्यान दिला कर अपने कथन की पुष्टि की।

इस पृथ्वी पर सादे द्विकलघट जीवो से क्रमशः एक दूसरे के उपरांत जिन जिन ढाँचो के जीव मनुष्य तक आनेवाली उत्पत्ति परंपरा मे उत्पन्न हुए है उन ढाँचो को गर्भ के भीतर गर्भपिंड उत्तरोत्तर प्राप्त करता हुआ मनुष्य के रूप मे

आता है। मनुष्य रीढ़वाला जंतु है और रीढ़वाले जंतुओं में सब से आदिम और क्षुद्रकोटि की मछलियाँ हैं। अस्तु और रीढ़वाले जंतुओ के समान मनुष्य का विकाश भी जलचर पूर्वजों से क्रमश: हुआ है। इसी से आरंभ में मनुष्य के मूलपिंड मे भी जलचरो के समान गलफड़े होते हैं जो आगे चलकर गायब हो जाते हैं। हृदय भी पहले पहल सुकड़ने फैलनेवाला एक सादा कोठा मात्र होता है जैसा कि क्षुद्र कीटो का होता है। पीठ की रीढ पूँछ के रूप मे दूर तक बढ़ी होती है। आगे चलकर जब हाथ पैर का ढाँचा तैयार होता है तब पहले पैर का अंगूठा लंबा होता है और हाथ के अंगूठे के समान इधर उधर सब उँगलियो पर उसी प्रकार जा सकता है जिस प्रकार बंदरो और बनमानुसो का। प्रसव के दो तीन महीने पहले हथेलियो और तलवो को छोड़ सारे शरीर मे रोएँ रहते हैं। गर्भ से बाहर आने पर भी बच्चे का सिर और अंगों के हिसाब से कुछ बड़ा होता है और हाथ भी कुछ लंबे होते हैं। नाक मे बाँसा (बीचोबीचवाली ऊपर की हड्डी) न होने के कारण वह चिपटी होती है। ये सब लक्षण बनमानुसों के हैं। एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न होने की करोड़ो वर्ष की परम्परा की उद्धरणी नौ महीनों के भीतर इस प्रकार संक्षेप मे हो जाती है। गर्भ-विधान में किसी एक अवस्था मे पहुँचे हुए पिंड सब जीवो के समान होते हैं। यदि हम मनुष्य, कुत्ते और कछुवे के दो महीने के पिंड को लेकर देखें तो उनमे कुछ भी अंतर न पावेंगे, उनका ढाँचा एक ही होगा।

विकाशनियम की चरितार्थता पहले सजीव सृष्टि (जन्तु और वनस्पति) मे ही दिखाई गई। फिर वैज्ञानिकों ने उसे लेकर संपूर्ण जगद्विधान पर घटाया और नाना रूपो के पदार्थों को एक ही मूलरूप के द्रव्य से उत्तरोत्तर उत्पन्न सिद्ध किया। इस प्रकार विकाश एक विश्व व्यापक नियम माना जाता है। नाना मतों और सम्प्रदायो की पौराणिक सृष्टिकथाओ का इस सिद्धांत से सर्वथा विरोध है। वे इस विकाशवाद के अनुसार असंगत ठहरती है, क्योकि वे सपूर्ण चराचर सृष्टि का एक ही समय मे ईश्वर द्वारा उसी प्रकार रचित बतलाती है जिस प्रकार कोई कारीगर नाना प्रकार की वस्तुएँ बना कर सजाता है।

इसी विकाशवाद को लेकर हैकल आदि ने अपने प्रकृतिवाद या अनात्मवाद की प्रतिष्ठा की है जिसका विरोध पौराणिक कथाओ तक ही नही रह जाता बलिक सारे ईश्वरवादी या आत्मवादी दर्शनो तक पहुँचता है। विकाशसिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी अधिकांश दर्शन नित्य चेतन तत्त्व मानते हैं और उसकी भावना कई प्रकार से करते हैं। हैकल चैतन्य को द्रव्य का एक परिणाम कहते हैं जिसका विकाश जंतुओं के मस्तिष्क ही मे होता है। उनका कहना है कि आत्मा शरीरधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः उसे शरीर से पृथक् एक अभौतिक नित्य तत्व मानना भूल है। शरीर के साथ ही उसकी भी इतिश्री हो जाती है। अंतःकरण को अपने व्यापारो का जो बोध होता है वही चेतना है। जिस प्रकार विषयसम्पर्क द्वारा इंद्रियां और संवेदन-

सूत्रों मे कई प्रकार के क्षोभ होते हैं उसी प्रकार मस्तिष्क मे जाकर उनके द्वारा उत्पन्न संस्कारो का बोध भी होता है। अत चेतना भी भौतिक अंतःकरण का ही व्यापार है जो उस करण के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। विकाशसिद्धांत को लेकर हैकल ने दिखाया है कि अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जंतुओ मे जिनमे संवेदनसूत्रो और मस्तिष्क आदि का पूरा विधान नहीं होता, अंत.करणव्यापार चेतन अवस्था को नहीं पहुँचे रहते। उनमे अत्यन्त सादी चाल के संवेदनव्यापार होते है जिनके अनुसार उनके शरीर का आकुचंन, प्रसारण और संचालन आदि होता है पर उनके अंतःकरण मे उस अवयव का विधान न होने के कारण जिसमे संवेदनव्यापार का प्रतिबिंब पड़ता है उनमे चेतना का अभाव होता है। पर विकाश-परंपरा में ज्यो ज्यो हम उन्नत कोटि के प्राणियो की ओर आते हैं त्यों त्यो उसका उत्तरोत्तर अधिक विधान पाते हैं। अत. चैतन्य कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं, वह परिणामशील है और उसमे घटती बढ़ती होती है।

यहां पर स्थूल मनोविज्ञानमय कोश का अथात् उस शरीर-विधान का जिसके द्वारा संवदन और मनोव्यापार होते है थोडा वर्णन आवश्यक है। शरीर का कोई भाग यदि खोला जाता है तो हम देखते हैं कि बहुत से मोटे, महीन तन्तुओ और सूत्रो का घना जाल फैला है। ये तन्तु और सूत्र कई प्रकार के दिखाई देते है—कोई लाल, कोई नीले, कोई सफेद। उनमें से लाल और नीले डोरे तो रक्तवाहिनी नलियाँ हैं जो पोली होती हैं। जो ठोस सफेद डोरे दिखाई देते

है वेही संवेदनसूत्र है। ये बहुत दृढ़ होते हैं। इंद्रियो पर पड़ा हुआ संपर्क-प्रभाव इन्ही से होकर मस्तिष्क मे पहुँचता है और संस्कार उत्पन्न करता है तथा उस संस्कार द्वारा उत्पन्न क्षोभ फिर इन्हीं सूत्रों से प्रवाह के रूप मे चलकर मांसपेशियो में गति उत्पन्न करता है और अंगो को प्रेरित करता है। इन सूत्रो का मूलकेंद्र मस्तिष्क और उससे मिला हुआ मेरुरज्जु है जो रीढ़ के बीचो-वीच होता हुआ बराबर नीचे की ओर को गया है। यह मेरुरज्जु भेजे और तंतुओ की बनी हुई मोटी बत्ती की तरह का होता है और कपाल मे पहुँच कर मस्तिष्क के लोथड़ो के रूप मे फैला रहता है। यही बत्ती (मेरुरज्जु) और लोथड़े (मस्तिष्क) संवेदन के केद्र हैं जिनसे संवेदनसूत्र निकलकर अनंत शाखाओ प्रशाखाओ मे विभक्त होते हुए मोटे महीन डोरो के रूप मे शरीर के प्रत्येक भाग मे फैले रहते है।

रीढ़ की गुरियो की प्रत्येक संधि पर मेरुरज्जु के संवेदन-सूत्रो के दो दो जोड़ दो ओर को जाते हैं। रीढ़ के पीछे से जो सूत्र निकलते हैं के अंतर्मुख या संवेदनात्मक सूत्र कहलाते है। उनसे होकर इंद्रिय-संपर्कघटित अणुक्षोभ भीतर केद्र वा मस्तिष्क की ओर जाता है और उसमें पहुँच कर संवेदन उत्पन्न करता है। रीढ़ के आगे से जो सूत्र निकले होते हैं वे बहिर्मुख या गतिवाहक सूत्र कहलाते है क्योकि संवेदन-जनित प्रेरणा उन्ही से हो कर मास-पेशियो की ओर आती है और अंगो मे गति उत्पन्न करती है। मेरुरज्जु से निकल कर ये दोनो प्रकार के सूत्र ज्यो ज्यों आगे

चलते है त्यो त्यो उत्तरोत्तर अनेक पतली शाखाओं में फैलते जाते है यहाँ तक कि त्वचा मे जा कर उनका ऐसा घना जाल फैला होता है कि शरीर के किसी स्थान पर महीन से महीन सुई की नोक चुभाई जाय तो भी वह किसी न किसी संवेदनसूत्र को अवश्य पीड़ित करेगी। इस प्रकार शरीर का सारा तल तारवर्कों के घने जाल द्वारा मस्तिष्क से संबद्ध है।

अब मस्तिष्क की बनावट देखिए। मस्तिष्क कई भागो मे विभक्त है जिन सब के ठीक ठीक व्यापारो का पता नहीं लग सका है। मुख्य विभाग चार है—

(१) मज्जादल—मेरुरज्जु जहाँ से कपाल के भीतर पहुँचता है वहां चौड़ा हो गया है। यही अंश मज्जादल है। यहीं से चेहरे की ओर जानेवाले तथा हृदय और फेफड़े की क्रिया संपादित करनेवाले सूत्र निकले होते है। इसी से इस पर आघात लगने से मनुष्य नहीं बचता।

(२) मज्जादल से थोड़ा ऊपर चल कर तंतुओं का एक छोटा लच्छा सा मिलता है जिसे सेतुबंध कहते है।

(३) इसी से लगा हुआ बगल मे एक छोटा लोथड़ा सा निकला होता है जिसे छोटा मस्तिष्क कहते है। इसका ठीक ठीक क्या कार्य्य है इस पर मतभेद है। जहाँ तक जान पड़ता है शरीर की कुछ गतियो का विधान इसके द्वारा होता है। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है कि इसे हटाने से पीछे फिरने की शक्ति जाती रहती है, यद्यपि कुछ दिनो मे वह फिर हो जाती है।

(४) सब के ऊपर चल कर वह बड़ा लोथड़ा मिलता है जो सारे कपाल मे फैला है। यही प्रधान मस्तिष्क है। देखने

में यह सफेद और भूरा मिला हुआ मुलायम गूदा सा जान पड़ता है। भूरा अंश सूक्ष्म घटों या घटको के मेल से बना होता है और सफेद अंश सूक्ष्म तंतुओं के मेल से। छोटी बडी बहुत सी दरारो के कारण मास्तिष्क का तल अखरोट की गिरी की तरह बिल्कुल खुरदुरा होता है। सब से बड़ी दरार लोथड़े के बीचोबीच से जा कर उसे दहने और बाएँ दो भागो मे विभक्त करती है। इसके अतिरिक्त और बहुत सी दरारे होती हैं। इस बड़े मस्तिष्क के ऊपरी तल पर जो संवेदनसूत्रगत घटक होते हैं वे स्मृति और धारणा के करण प्रतीत होते हैं जो संवेदन-सूत्रो द्वारा प्राप्त संस्कारो को धारण और पुनरुद्भूत करते है।

मनुष्य का मस्तिष्क और जंतुओ के मस्तिष्क की अपेक्षा बहुत अधिक खुरदुरा होता है, उसमे उभार अधिक होते है। निम्न कोटि के जंतुओ का मस्तिष्क प्रायः समतल होता है। सारा मस्तिष्क पिंड रक्तवाहिनी नाड़ियो के घने जाल से गुछा रहता है इससे तोल मे शेष शरीर के चालीसवे भाग के बराबर होने पर भी वह प्रवाहित रक्त का पंचमांश ग्रहण करता है। प्रायः सब लोग जानते हैं कि मानसिक श्रम मे कितनी शिथि-लता आती है और ताजा रक्त पहुँचने की कितनी आवश्यकता होती है। निद्रा की अवस्था में रक्त मस्तिष्क से नीचे उतरा रहता है। इससे सूचित होता है कि मस्तिष्क के व्यापार मे शरीरशक्ति का व्यय होता है।

मस्तिष्क के मूल से संवेदनसूत्रो के दो जोड़े निकल कर दो ओर गए होते हैं। पहला जोड़ा तो घ्राणेद्रिय की ओर जाता है और दूसरा जोड़ा थोड़ा और नीचे से निकल कर

चक्षुरिंद्रिय की ओर जाता है। चेहरे की ओर जानेवाले और बाकी संवेदनसूत्र मज्जादल से निकले हुए होते हैं। उनमे से पाँचवा जोड़ा चेहरे की त्वचा तथा जीभ और जबड़ो की गतिविधि का सपादन करता है। आठवाँ जोड़ा श्रवणेन्द्रिय मे मिला रहता है और नवाँ रसनेंद्रिय से। इनके अतिरिक्त जो संवेदनसूत्र और नीचे से अर्थात् रीढ़ के भीतर गए हुए मेरुरज्जु से निकले होते है वे स्पर्शसंवेदनात्मक और गत्यात्मक सूत्र है जो शरीर के और सब भागो मे जा कर फैले होते है।

बाह्य विषयो को भिन्न भिन्न रूपो से ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न इंद्रियो तक आए हुए संवेदन सूत्रो के छोरो की रचना और व्यवस्था भिन्न भिन्न प्रकार की हो। नेत्रगत संवेदनसूत्रो के सिरे प्रकाश ग्रहण करने के उपयुक्त हैं, श्रवण के वायुतरंग ग्रहण करने के, त्वक् के स्पर्श ग्रहण करने के इसी प्रकार और भी समझिए। पर अभी तक शरीर विज्ञानियों का इस विषय मे एकमत नही हुआ है कि विशेष विशेष विषयों के ग्रहण के लिए संवेदनसूत्रो मे क्या क्या विशेषताएँ कहाँ तक होनी चाहिए।

ऊपर जिस अतःकरण या मनोव्यापारयंत्र का वर्णन हुआ है वह मनुष्य आदि उन्नत प्राणियो का है। विषय-संपर्क होने से अंगो मे गति इस प्रकार होती है। नेत्र, त्वक्, रसन आदि इंद्रियो अर्थात् अंतर्मुख संवेदनसूत्रो के विशेष विशेष प्राप्यकारी छोरो पर विषयसंपर्क होते ही एक प्रकार का विकार या संस्कार उत्पन्न होता है जो गतिप्रवाह के रूप मे मस्तिष्क मे पहुँचता है। उसके वहाँ पहुँचने ही संवेदना जाग्रत होती

है। इस संवेदना के कारण प्रेरणा उत्पन्न होती है जो गतिवाहक सूत्रों द्वारा बाहर की ओर पलट कर किसी अंग को हिलाती है। यदि किसी का पैर अचानक मेरे पैर के ऊपर पड़ जाय तो मैं अपना पैर बिना इच्छा या संकल्प के भी झट हटा लूँगा।

संपर्क पा कर अंगों में गति उत्पन्न होने के लिए चेतना की आवश्यकता नहीं। अणुजीवों तथा और क्षुद्र कोटि के जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों का विधान नहीं होता। अणुजीव तो कललरस की सूक्ष्म कणिका मात्र होते हैं। पर वे भी छू जाने पर सुकड़ते या हटते हैं। उनकी यह क्रिया चेतन नहीं, प्रतिक्रिया मात्र है। क्षुद्र जीवों के शरीर पर बाहरी संपर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ गतिप्रवाह के रूप में कलल-रस के अणुओं द्वारा भीतर केन्द्र में पहुँचता है और वहाँ से प्रेरणा के रूप में बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता है। वस्तुसंपर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत या इच्छाकृत नहीं होती, केवल कलल-रस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे, छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, क्षुद्र कीटों का अंग मोड़ना या हटना इत्यादि। चेतनाविशिष्ट पूर्ण अंतःकरण युक्त मनुष्य आदि बड़े जीवों में भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमें विषयसंपर्कजनित इंद्रियसंस्कार अंतर्मुख संवेदनसूत्रों द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नहीं पँहुचता, बीच ही से मेरुरज्जु या और किसी स्थान से बहिर्मुख गत्यात्मक सूत्रों द्वारा पलट पड़ता है और अंग विशेष में गति उत्पन्न करता है। जैसे, आँख के पास किसी वस्तु के

आते ही पलकें आप से आप बिना इच्छा या संकल्प के गिर पड़ती हैं। यह अकसर देखा गया है कि आदमी का मेरुरज्जु टूट गया है और शरीर के निचले भाग मे चेतन वेदना नहीं रह गई है पर तलवे को सहलाने से पैर सिमटता रहा है।

यही अचेतन प्रतिक्रिया सब से आदिम और सादा संवेदन है जो कललरस की वृत्ति है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अणुजीवो से लेकर बड़े से बड़े जीवो तक मे पाई जाती है। यह संवेदन और गति ज्ञान वा चेतना पर अवलंबित नही। प्राणिमात्र में यह होती है। हैकल आदि प्राणिविज्ञानविदो का मत है कि प्रतिक्रिया चेतन व्यापार नहीं है—वह ज्ञान और संकल्प द्वारा नही होती। अतः क्षुद्र अणुजीवो आदि मे जो संवेदन अर्थात् बाह्य विषयों का ग्रहण होता है वह जड़ वा अचेतन है—अर्थात् उसी प्रकार होता है जिस प्रकार निर्जीव पदार्थों मे पदार्थ विशेष के संसर्ग से गति या स्फोट होता है (जैसे, बारूद का चिनगारी पाकर भड़कना, लोहे का चुंबक पाकर उसकी ओर चलना)। जिन जीवों मे संवेदनसूत्र तो होते हैं पर मस्तिष्क के रूप मे केंद्रीभूत नहीं होते उनमें भी, इन जीवविज्ञानियो के अनुसार, संवेदन निःसंज्ञ या अचेतन दशा में ही होते है। चेतना उन जीवो से आरंभ होती है जिनमे मस्तिष्क या अंतःकरण की रचना होती है। सारांश यह कि क्षुद्र जीवो मे चेतना नही होती, आगे चल कर कुछ उन्नत कोटि के जीवो से ही चेतना मिलने लगती है।

उपर्युक्त निरूपणो के आधार पर आधिभौतिक पक्ष के अनात्मवादी तत्त्ववेत्ता आत्मा की ऐकांतिक स्वतंत्र सत्ता

अस्वीकार करते हैं। वे चेतना को एक शरीरधर्म मात्र कहते हैं जिसका विकाश उसी प्रकार होता है जिस प्रकार और और भौतिक गुणो का। शरीर के साथ वह भी बढ़ती, विकृत होती और अंत मे नष्ट होती है। आत्मा भूतो से परे कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नही, वह मस्तिष्क की ही वृत्ति है। मस्तिष्क के बिना चेतन व्यापार असंभव हैं। अनात्मवादी भूतो से परे आत्मा की सत्ता का अस्तित्व 'गतिशक्ति की अक्षरता' और 'द्रव्य की अविचलता' के सिद्धात द्वारा असिद्ध कहते है। गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धांत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह है कि गतिशक्ति जितनी है उतनी ही रहती है, परिणाम द्वारा वह घट बढ़ नहीं सकती। यदि भौतिक शरीर जो व्यापार करता है उससे चेतना को भिन्न माने तो इसका मतलब यह है कि संवेदनसूत्रो के क्षोभ के रूप मे जो भौतिक क्रिया होती है वह अभौतिक चेतन क्रिया के रूप मे परिवर्त्तित हो जाती है * अर्थात् उतनी गतिशक्ति नही रह जाती, उसका क्षय हो जाता है। यह बात भौतिक विज्ञान से असिद्ध है। द्रव्य की अविचलता का सिद्धांत यह

---

* यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि विज्ञान में केवल समवायि कारण ही माना जाता है, निमित्त नहीं। जैसे, यदि किसी स्थिर गोले को हमने हाथ के धक्के से चला दिया तो इस गति के कारण की मीमासा इसी प्रकार होगी कि हाथ की गतिशक्ति जाकर गोले की गतिशक्ति के रूप में परिणत हो गई। जितने व्यापार सृष्टि में होते है सब का कारणनिरूपण विज्ञान इसी प्रकार करेगा।

है कि कोई द्रव्यखंड जब तक भौतिक गतिशक्ति द्वारा अव-रुद्ध या विचलित न होगा तब तक या तो एक सीध में बरा-बर चला चलेगा या अचल रहेगा। जितने भौतिक व्यापार होते हैं सब दिग्बद्ध होते हैं, दिक् ही मे उनकी अभिव्यक्ति होती है। इन व्यापारो को दिक् से अनवच्छिन्न किसी सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं मान सकते। अतः न तो शरीर को ही चलानेवाली कोई अभौतिक सत्ता है, न जगत् को। व्यापारो के प्रेरक या उत्पादक भौतिक व्यापार ही हो सकते है, यह विज्ञान का एक अखंड सिद्धांत है। इन सब प्रमाणो से सिद्ध है कि चेतनाशक्ति भी एक भौतिक शक्ति है। संवेदन-सूत्रो और मस्तिष्क के व्यापारो के हिसाब से ही चेतना के व्यापारो का होना इस बात को प्रत्यक्ष प्रकट करता है।

आत्मसत्तावादी इन बातो का इस प्रकार उत्तर देते हैं। पहली बात तो यह कि शक्ति की अक्षरता का जो सिद्धांत है उसकी पहुँच वहीं तक समझनी चाहिए जहाँ तक मनुष्य परीक्षा कर सका है। दूसरी बात यह कि आत्मसत्ता संकल्प द्वारा भौतिक शरीर मे संचित गतिशक्ति की मात्रा मे वृद्धि या न्यूनता नहीं करती, केवल निमित्तरूप से यह भर निश्चय कर देती है कि वह कौन सा रूप धारण करे, किस ओर प्रवृत्त हो। शक्ति का वेग या मात्रा और बात है और किसी विशेष ओर को उसकी प्रवृत्ति और बात। गति और विधि मे जो भेद है उसे समझ लेना चाहिए। आत्मा केवल विधि का निर्णय करती है, गति की न वृद्धि करती है, न क्षय। अपने अंगों को जिस ओर जितनी बार चाहे हम बिना किसी भौतिक

कारण के केवल आत्मसंकल्प द्वारा हिला सकते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मसत्ता भूतो से परे और स्वतंत्र है। कोई अभौतिक सत्ता भौतिक गतिविधि पर कोई प्रभाव नही डाल सकती इसके प्रमाण मे जो 'द्रव्य की अविचलता' का सिद्धांत उपस्थित किया जाता है आत्मवादी उसके प्रतिवाद मे गणि-तज्ञो का गतिशास्त्र संबंधी यह निरूपण पेश करते हैं—"कोई द्रव्यखंड जिस दिशा को जा रहा है उस पर जिस शक्ति का पथ समकोण बनाता हुआ होगा वह शक्ति उस द्रव्यखंड का पथ विना गतिशक्ति के व्यय या वृद्धि के बदल सकती है"। इसी रूप से आत्मसत्ता भी चलते द्रव्य की दिशा मे, विना उसकी शक्ति की वृद्धि या ह्रास किए, फेरफार कर सकती है। इस प्रकार आत्मस्वातंत्र्य के संबंध मे आधिभौतिक पक्ष की जो शकाए हैं उनका समाधान हो सकता है।

ह्यूम आदि कुछ दार्शनिको ने बौद्धो के समान क्षणिक ज्ञान को ही आत्मा या मन कहा। क्षण क्षण पर बदलने वाले ज्ञानो (या विज्ञानो) से भिन्न उनका अधिष्ठान रूप कोई स्थिर या एक ज्ञाता नही है। भिन्न भिन्न ज्ञानो के बीच एक स्थिर 'अहम्' का जो भान होता है वह एक आरोप मात्र है क्योकि उसकी उत्पत्ति किसी इंद्रियज ज्ञान या संस्कार से नहीं है। मन या आत्मा क्षणिक चेतन अवस्थाओ की परंपरा का ही नाम है। इस मत मे मिल आदि तत्त्वज्ञो को यह अनिवार्य्य बाधा दिखाई दी कि संस्कारो की परंपरा को अपने परंपरा होने का बोध क्यों कर होता है। प्रो० जेम्स ने भी अपने मनोविज्ञान मे कहा है कि प्रत्येक क्षण मे आया हुआ भाव या ज्ञान ही भावुक

या ज्ञाता है। एक क्षण का अहंभाव विगत क्षण के अहंभाव से भिन्न होता है, पर भिन्न होने पर भी उसका उत्तराधिकारी या संग्राहक होता है। वह पिछले क्षण का भाव भी अपने से पूर्ववर्त्ती भाव का संग्राहक था, अतः उसके संग्रह के साथ उससे पिछले भाव का भी संग्रह समझ लेना चाहिए। कहने की आवश्यकता नही कि यह सब चक्कर संबंधसूत्र के अभाव की पूर्त्ति के लिए काटना पड़ा है। विकाशवाद की पद्धति के अनुसार आजकल मनोविज्ञान के अधिकतर ग्रंथ मनोव्यापारो के क्रमविधान की ही मीमांसा करते है, सत्ता के विचार मे प्रवृत्त नही होते। ये व्यापार किसके हैं, शरीर से अलग कोई आत्मसत्ता है या नहीं इन बातो को वे अपने विषय (जिसे वे शुद्ध विज्ञान की एक शाखा मानते है) से अलग सत्तादर्शन या परा विद्या का विषय बतलाते है। यहाँ तक कि मनोविज्ञान के बहुत से ग्रंथो मे अब आत्मा शब्द भूल कर भी नही आने पाता, जहाँ तक हो सकता है बचाया जाता है।

सब ज्ञानो का ज्ञाता कोई एक है जो क्षण क्षण पर उदय होने वाले नाना ज्ञानों के बीच भी सदा वही रहता है इस बात के विरुद्ध प्रमाण मे वह विलक्षण मानसिक रोग भी उपस्थित किया जाता है जिसे 'दोहरी चेतना' या 'छाया' कहते है। इसमें एक व्यक्ति कभी कभी बिल्कुल दूसरे व्यक्ति का सा आचरण करने लगता है, उसका व्यक्तित्व एक दम बदल जाता है। किसी देवता या भूत प्रेत का सिर पर आना इसी प्रकार का रोग है। इस रोग के कई विलक्षण दृष्टांत योरप मे भी देखे गए हैं। फेलिडा नाम की एक लड़की सन् १८४८ मे पैदा हुई। १४ वर्ष तक तो

उसकी दशा ठीक रही। सन् १८६५ मे वह एक दिन एकबारगी बेहोश हो गई। कुछ देर में जब उसे होश हुआ तब उसकी प्रकृति एक दम बदली हुई पाई गई। पहले वह चुप्पी, हठी, शांत तथा मंद बुद्धि और चेष्टा की थी, पर बेहोशी के पीछे वह हँसमुख, चंचल और तीव्र बुद्धि की हो गई। इस दूसरी अवस्था मे उसे अपनी पहली अवस्था की सब बातो का स्मरण था और देखने मे वह सब प्रकार भली चंगी थी। कुछ महीनो पीछे बेहोशी का दूसरा दौरा हुआ और वह फिर अपनी पहली अवस्था को प्राप्त हो गई। इस अवस्था मे उसे अपनी दूसरी अवस्था की बातो का कुछ भी स्मरण नहीं था। जब तक वह रही बारी बारी से ये दोनो अवस्थाएँ उसकी होती रहीं। अत. यह कहा जा सकता है कि उसकी दो अलग अलग चेतनाएँ या आत्माएँ थी। इसी संबंध मे वे व्यापार भी ध्यान देने योग्य है जिन्हे 'प्रतिक्रिया' और 'गौण चेतना' कहते है। सोने मे यह प्राय. देखा जाता है कि छूने से पैर हट जाता है, यद्यपि इस व्यापार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जब ध्यान किसी दूसरी ओर लगा रहता है तब सब इंद्रियाँ खुली रहने पर भी हमे कभी कभी शब्द, स्पर्श, दृश्य का ज्ञान नही रहता। कोई बैठा लिख रहा है। बाहर जो शब्द होरहा है, उँगलियो से जो वह कलम पकड़े हुए है, उसका उसे कुछ भी ज्ञान नही है। जब मै जान बूझकर ध्यान ले जाऊँगा तभी उन बातो का ज्ञान होगा। एक ओर तो ज़ोर ज़ोर से पढ़ते जाना और दूसरी ओर अर्थ भी ग्रहण करते जाना, बाजे पर उँगली रख रख कर बजाते

भी जाना और गाते भी जाना विभक्त चेतना के व्यापार हैं। इस प्रकार के युगपद् मनोव्यापार यह सूचित करते हैं कि चेतना की प्रधान धारा से अलग होकर गौण धारा भी चलती है। अतः चेतना के एक अखंड, निर्विकार, सदा एकरस आत्मा होने का प्रमाण नहीं मिलता। *

आत्मवादी कहते हैं कि यदि मन केवल चेतन अवस्थाओं की परंपरा मात्र होती, यदि क्षणिक ज्ञानों का ही नाम मन होता तो विचार, तर्क, आत्मनिरीक्षण आदि असंभव होते। तर्क के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न अवयवों को

---

* मस्तिष्क के विवरण में दिखाया जा चुका है कि संपर्क पाकर अंग को हटाना, किसी वस्तु को पकड़ना आदि व्यापार बड़े जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों की क्रिया से होते हैं। संवेदन सूत्रों द्वारा जब स्पंदन मस्तिष्क में पहुँचता है तब गतिवाहक सूत्रों में स्पंदन होता है जो अंग विशेष में पहुँच कर उसे हिलाता है। यदि अंगव्यापार चेतन संकल्प द्वारा उत्पन्न नहीं है तो प्रतिक्रिया मात्र है, शुद्ध अंतःकरण (मस्तिष्ककेंद्र) का व्यापार नहीं। हमारे यहाँ के दार्शनिक इसे मन का व्यापार न कहेंगे, इंद्रियों का स्थूल व्यापार कहेंगे। इंद्रियाँ मन से संबद्ध होकर जो व्यापार करेंगी उसी को वे मनोव्यापार के अंतर्गत लेंगे। मन के एकत्व का प्रतिपादन करते हुए नैयायिक मन के युगपद् व्यापार असंभव कहते हैं। उनका कहना है कि एक क्षण में एक ही ज्ञान होता है। अतः बाजा बजाते हुए गाने में जो एक साथ दो दो मनोयोग कहे गए हैं उनके बीच वे सूक्ष्म कालांतर की कल्पना करेंगे।

व्यवस्थित करनेवाली कोई एक सत्ता हो। ज्ञान-कृत पुनरुद्भावना और स्मृति के लिए पूर्व प्रत्ययो के साथ वर्त्तमान प्रत्ययो का मिलान करनेवाला कोई एक स्थिर द्रष्टा चाहिए। इस समय मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं कल घूमने गया था, पारसाल प्रयाग मे था, इत्यादि। इसका मतलब यही है कि कल घूमने और पारसाल प्रयाग मे रहने का अनुभव करनेवाला वही था जो इस समय सोच रहा है। यदि मन और आत्मा क्षणिक ज्ञानो का ही नाम होता तो यह असंभव होता †। यदि आधिभौतिक पक्ष के लोग यह कहे कि

---

† पाश्चात्य आत्मवादी मनोविज्ञानियो के आत्मसत्ता सबधी ये प्रमाण वे ही है जो न्याय मे दिए गए है।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ३। १। १

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेध॰ ३। १। ३

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ३।१।७

इसी प्रकार स्मृति का व्यापार भी प्रमाण में लाया गया है—

तदात्मगुण सद्भावादप्रतिषेधः ३।१।१४

बात यह है कि जिस प्रकार पाश्चात्य ग्रथो मे मन और आत्मा के व्यापारो मे कोई भेद नहीं किया गया है उसी प्रकार न्याय मे भी अतःकरणविशिष्ट आत्मा का ही विचार हुआ है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के ही व्यापार कहे गए हैं।

पर साख्य और वेदांत मे शुद्ध आत्मा अकर्ता कहा गया है। उसमें कोई व्यापार नहीं, वह द्रष्टा मात्र है। व्यापार करता है मन, आत्मा तो केवल उसके व्यापारो का साक्षी या देखनेवाला है। जैसे, मैं

कि स्थूल भौतिक मस्तिष्क ही अधिष्ठान रूप में इन भिन्न भिन्न ज्ञानो का समाहार करनेवाला है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीरविज्ञानी कहते हैं कि और और घटको के समान मस्तिष्क के घटक भी अपनी उत्पत्तिपरंपरा के अनुसार अल्पकाल मे ही बदल जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कोई एक परिणामरहित सत्ता है जो सब अवस्थाओं मे एकरूप बनी रहती है। चेतना की यह एकता ही चेतन सत्ता की एकता का प्रमाण है। आत्मा एक वस्तु या सत्ता है द्रव्यगुण या वृत्ति मात्र नहीं है यह बात तो सिद्ध हुई। अब यह सत्ता अभौतिक है—भूतो से परे है—इसके प्रमाण मे आत्मवादी जो कहते हैं वह भी थोड़े में सुन लीजिए।

विकाशसिद्धांत पर लक्ष्य रखनेवाले मनोविज्ञानी कहते हैं कि इंद्रियज ज्ञान या संवेदन ही मूल उपादान है जिनके पुनरुद्भावन, समाहार और मिश्रण द्वारा जाति या सामान्य (जैसे, गोत्व, पशु आदि) की भावना, विचार, तर्क संकल्प विकल्प आदि की योजना होती है। आत्मवादियो का कहना है कि ये उन्नत वृत्तियाँ संवेदनो से सर्वथा भिन्न कोटि की है। पहली बात तो यह कि संवेदन न तो अपने अस्तित्व का आप अनुभव कर सकता है, न पदार्थों के गुणो से जाति

कुछ सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ। यह सोचना या स्मरण करना आत्मा का व्यापार नहीं, आत्मा का तो केवल यह ज्ञान है कि 'मैं यह सोच रहा हूँ' या 'मैं यह स्मरण कर रहा हूँ'। शुद्ध चैतन्य का लक्षण यही है।

की भावना कर सकता है और न दूसरे संवेदनो के साथ अपने संबध का बोध कर सकता है। हमारे सामने एक नारंगी रखी है। यो ही हमारी दृष्टि उस पर पड़ रही है और हमे उसके वहाँ रहने भर का ज्ञान है। यहाँ तक तो संवेदन या इंद्रियज ज्ञान हुआ। अब हम उसकी ओर ध्यान देते हैं—अर्थात् मन या आत्मा को उसकी ओर प्रवृत्त करते हैं। अब हमे उसकी गोलाई की, रंग की ओर स्वाद की भावना होती है और हम इन गुणों को दूसरे फलो के गुणो से मिलाते हैं।* शुद्ध गुणो की यह भावना और उनका मिलान करनेवाला संवेदन से भिन्न कोई दूसरा ही है। दो वस्तुओ अर्थात् उनसे प्राप्त इंद्रियज संवेदनो को आगे रखकर देखनेवाला उन दोनो संवेदनो से भिन्न होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य और जाति की भावना भी इंद्रियज ज्ञान से परे है और एक अभौतिक सत्ता का आभास देती है। इंद्रियो द्वारा जो कुछ हमे ज्ञान होता है वह विशेष का ही। हमे राम, गोपाल आदि विशेष मनुष्यो, हरे पीले आदि विशेष रंगो, भूखे को अन्नदान आदि विशेष व्यापारो का ही प्रत्यक्ष होता है, मनुष्य, रग दया आदि सामान्यो का नहीं जो देशकाल से परे हैं। समस्त भौतिक व्यापार देश काल के भीतर होते है, अतः ये अभौतिक व्यापार हैं। ये व्यापार किसी वस्तु या सत्ता के हैं, अतः वह वस्तु

---

* न्याय की परिभाषा मे 'कोई वस्तु सामने है' इस इतने ज्ञान को निर्विकल्पक और 'वस्तु यह है, ऐसी है, वैसी है' इस ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

या सत्ता भी भूतों से परे ठहरी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनोविज्ञान की ओर से आत्मा के खंडन मंडन की बात अब नहीं उठती, अब सत्ता का विषय ही उससे अलग कर दिया गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का पता लग सकता है कि विकाशसिद्धांत का प्रभाव कितनी विद्याओ पर पड़ा है और उन्होने किस प्रकार अपनी व्यवस्था इस सिद्धांत के अनुकूल की है। जगत् की उत्पत्ति, जीवो की उत्पत्ति, मनोविज्ञान, कर्त्तव्यशास्त्र, इतिहास, धर्माधर्म, समाजशास्त्र सब की व्याख्या विकाशपद्धति का अवलंबन करके की गई है। भाषा की उत्पत्ति का क्रम अनेक जर्मन भाषातत्त्वविदो ने अपनी पुस्तको मे दिखाया है। जेगर ने लिखा है कि वनमानुसो से मिलते जुलते पूर्वजो से उत्पन्न मनुष्य मे दो पैरो पर खड़े होने की विशेषता सब से अधिक हुई जिससे उसे श्वास की क्रिया या प्राणवायु पर पूरा अधिकार हो गया। इसी विशेषता से उसमे वर्णात्मक वाणी की सामर्थ्य आई। आजकल ऐसा ही कोई होगा जो इतिहास लिखने मे इस बात का ध्यान न रखता हो कि किसी जाति के बीच ज्ञान, विज्ञान, आचार, सभ्यता इत्यादि का विकाश क्रमशः हुआ है। इन सब को पूर्ण रूप मे लेकर किसी जाति के जीवन का आरंभ नहीं हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान के ग्रंथ शुद्ध बुद्ध पूर्ण चेतन आत्मा को लेकर नहीं चलते। जो पशुओ की चेतनप्रवृत्ति से आरंभ नहीं भी करते वे भी इंद्रियसंवेदन की क्रमशः योजना से आरंभ करके भावो और

विचारो तक पहुँचते है। विकाश के आधिभौतिक अनुयायिओं का कहना है कि जैसे और सब वस्तुओ का वैसे ही मन या मानासिक वृत्तियो का भी संघटन वाह्य जगत् के नियमों के अनुकूल होता है। अंतर्जगत् या आध्यात्मिक जगत् की भूतो से परे कोई सत्ता नही है। विचार और वस्तुव्यापार का जो समन्वय दिखाई पड़ता है वह वस्तुव्यापार के ही प्रतिबिंब के कारण (अद्वैत आत्मवादी जर्मन दार्शनिक इसका उलटा मानते है)।

इसी प्रकार धर्माधर्म या कर्त्तव्यशास्त्र की नीवँ भी लोकरक्षा और फलत' आत्मरक्षा पर डाली गई है। एक मूल रूप से क्रमश अनेक रूपो की उत्पत्ति, एक सादे ढाँचे से अनेक जटिल ढाँचो का उत्तरोत्तर विधान, यही विकाश का साराश है। इस सिद्धात के अनुसार जिस प्रकार यह आसिद्ध है कि मनुष्य ऐसा प्राणी सृष्टि के आदि मे ही एकबारगी उत्पन्न होगया उसी प्रकार यह भी आसिद्ध है कि मनुष्य जाति के बीच धर्म, ज्ञान और सभ्यता आदिम काल मे भी उतनी ही या उससे बढ़ कर थी जितनी आजकल है। आधुनिक मत यही है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है। अत्यंत प्राचीन लोगो को बहुत अल्प विषयो का ज्ञान था। धीरे धीरे उस ज्ञान की वृद्धि होती गई है। इसी प्रकार धर्मभाव भी पहले बहुत स्वल्प और सादे रूप मे था, पीछे सामाजिक व्यवहारो की वृद्धि के साथ साथ उसका भी अनेक रूपो मे विकाश होता गया।

लोक-व्यवहार और समाज विकाश की दृष्टि से ही धर्म

और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। दूसरो के प्रति जो आचरण हम करते है उसी मे अच्छे और बुरे का आरोप हो सकता है। व्यवहारसंबंध से ही क्रमश. सदसाद्विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है। व्यवहारसंबंध जीवननिर्वाह् के लिये आवश्यक था। परस्पर मिल कर कार्य्य करने मे उन बातो की प्राप्ति अधिक सुगम प्रतीत हुई जिनसे सब को समान लाभ था। एक ही पूर्वज से उत्पन्न अनेक परिवार इसी समान हित की भावना से प्रेरित हो कर कुलबद्ध हो कर रहने लगे। एक व्यक्ति के जिस कर्म से सब का जितना हित या अहित होता—अर्थात् सब को जितना सुख या दु.ख प्राप्त होता—उसी हिसाब से उस कर्म की स्तुति या निंदा होती। इस प्रकार 'कुल धर्म' की स्थापना हुई। पहले प्रत्येक कुल को दूसरे कुलों से बहुत लड़ाई भिड़ाई करनी पडती थी अत: आदिम काल मे यह धर्म स्वरक्षार्थ ही था। इस धर्म के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वार्थवृत्ति और इच्छा पर कुछ अंकुश रखना पड़ता था। यदि प्रत्येक मनुष्य मनमाना कार्य्य करने लगे, दूसरो का कुछ भी ध्यान न रखे, तो धर्मव्यवस्था और उसके आधार पर स्थित समाज व्यवस्था नहीं रह सकती। अतः किसी समाज को बद्ध रखने के लिये यह धर्मव्यवस्था आवश्यक है। चोरो और डाकुओ तक के दल मे यह धर्मव्यवस्था पाई जाती है। चोर चाहे दुनिया भर का माल चुराया करें पर अपने दल के भीतर उन्हे धर्मव्यवस्था रखनी पड़ती है। वे यदि आपस में अन्याय और बेईमानी करने लगे तो उनका दल टूट जाय। अतः सिद्ध

हुआ कि लोक या समाज को धारण करनेवाला धर्म है। इसी से कहा गया है कि "धर्म्मो रक्षति रक्षितः"।

डारविन ने अपने 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में विस्तार के साथ दिखाया है कि साथ रहने से उत्पन्न परस्पर सहानुभूति की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा मनुष्य किस प्रकार दूसरो की प्रसन्नता और साधुवाद की कामना और उस कामना के अनुसार बहुत से कार्य्य करने लगा। क्षुधा, इंद्रियसुख, प्रतिकार इत्यादि की निम्न कोटि की वासनाएँ यद्यपि प्रबल होती थी, पर तुष्टि के उपरांत उनका जोर नही रह जाता था। किंतु संग की वासना सदा बनी रहती थी, मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नही। संग का अर्थ है सहानुभूति अतः सहानुभूति का भाव अधिक स्थायी रहता था। यदि कोई मनुष्य निम्न कोटि की वासनाओ के वशीभूत हो कर कोई ऐसा कार्य्य कर बैठता जिससे दूसरो को अप्रसन्नता होती तो वह शांत होने पर उसके लिये पश्चात्ताप करता। विकाशवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतंत्र पदार्थ नही है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकाश हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल मे—मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक—बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यो ज्यो वृद्धि होती गई त्यो त्यो धर्म की भावना मे भी देशकालानुसार फेरफार होता गया। कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियो को चुराना या लड़ कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओ की वेदियो

पर नरवलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइविल मे इसके कई उल्लेख हैं, शुनःशेफ की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस संबंध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनों वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन उद्दालक, उनकी स्त्री और उनके पुत्र श्वेतकेतु बैठे थे। एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को ले कर चलता हुआ। श्वेत-केतु को वहुत बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कह कर शान्त किया कि यह सनातन धर्म है—एप धर्मः सनातनः—ऐसा सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़ कर जायगी उसे भ्रूणहत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीन कर ले जायगा उसे भी पातक लगेगा।

इसी प्रकार दीर्घतमस् ऋपि ने भी अपनी स्त्री के आचरण पर क्रुद्ध हो कर शाप दिया था कि अव से कोई स्त्री, चाहे उसका पति जीता हो या मर गया हो, दूसरे पुरुप से संसर्ग न कर सकेगी'। स्त्रियों के लिये जो पातिव्रत्य पहले 'दीर्घतमस् का शाप' था वही आगे चल कर एक मात्र धर्म हुआ। इस वात की पुष्टि महाभारत के अन्य स्थलो से भी होती है। आदि पर्व में कुंती के प्रति जो उपदेश है उसमे लिखा है कि प्राचीन समय में केवल ऋतुकाल में पातिव्रत्य आवश्यक था—

ऋतावृतौ, राजपुत्रि, स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते।
नातिवर्त्तव्यमित्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥
शेपेष्वन्येपु कालेपु स्वातंत्र्यं स्त्री किलार्हति।
धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणां परिचक्षते॥

राक्षसविवाह, नियोग, इत्यादि उसी असभ्य कालके स्मारक हैं। तात्पर्य यह कि दूसरे जनपदों को लूटना, दूसरे कुल की स्त्रियों को छीनना, नरवध इत्यादि पहले अधर्म नहीं समझे जाते थे। असभ्य जंगली जातियों में अब तक ये बातें प्रचलित है। पर सभ्य जातियों के बीच अब ये बहुत बुरी समझी जाती हैं। धर्म का विकाश धीरे धीरे समाज की उन्नति के साथ साथ हुआ है। अतः विकाशवादियों के अनुसार इह लोक या समाज से परे धर्म कोई नित्य और स्वतः प्रमाण पदार्थ नहीं है।

तत्त्वज्ञवर हर्बर्टस्पेंसर ने विकाश सिद्धांत की जो दार्शनिक स्थापना की है उसमें धर्मतत्त्व की भी विस्तृत मीमांसा है। स्पेंसर ने अणुजीवों से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके अंत में यही सिद्धांत स्थिर किया कि "परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति" धर्म की मूल प्रवृत्ति है जो सजीव सृष्टि के साथ ही व्यक्त हुई और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती गई। यह प्रवृत्ति आदि में संतानोत्पादन और संतान-पालन के रूप में प्रकट हुई। एकघटात्मक अणुजीवों में स्त्रीपुरुष भेद नहीं होता। उनकी वंशवृद्धि विभाग द्वारा होती है। अतः हम कह सकते हैं कि संतान के लिये—दूसरे के लिये—अणुजीव अपने शरीर को त्याग देता है। इसी प्रकार आगे के उन्नत श्रेणी के जोड़ेवाले जीव अपनी संतान के लालन पालन के लिये स्वार्थ त्याग करने में प्रसन्न होते हैं। यही प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते इस अवस्था को पहुँचती है कि लोग अपनी संतति के सहायतार्थ ही नहीं अपने जाति भाइयों

भाइयो के सहायतार्थ भी सुख से स्वार्थ त्याग करते हैं। अस्तु, सब जीवो मे श्रेष्ट मनुष्य को इसी प्रवृत्ति के उत्कर्षसाधन मे—वसुधैव कुटुम्बकम् के भाव की प्राप्ति के प्रयत्न मे—लगा रहना चाहिए।

यहाँ पर कह देना आवश्यक है कि विकाश सिद्धान्त रूप से विज्ञान की सब शाखाओ मे स्वीकृत हो गया है। पर ये शाखाएँ अपने अन्वेषणो मे निरंतर उन्नति करती जाती है, इससे जिन बातो को पूर्व पीढ़ी के विकाशवादी अपने प्रमाण मे लाए हैं उनके व्योरो मे इधर बहुत कुछ फेरफार हुआ है। बहुत से भौतिक विज्ञानियो ने परमाणु के भी अवयवो या विद्युदणुओ तक पहुँच कर यह कहना आरंभ कर दिया है कि द्रव्य वास्तव मे विद्युत् का ही सघात विशेष है, विद्युच्छक्ति का ही एक रूप है। इस बात को मानलें तो द्रव्य और शक्ति का द्वंद्व तो मिट गया। द्रव्य शक्ति की ही एक विशेष अभिव्यक्ति या रूप ठहरा। यदि सब कुछ शक्ति ही है तो बाकी क्या बचा ? बाकी बचा ईथर (आकाश द्रव्य) जिसके विषय मे हम अभी तक बहुत कम बातें जान सके है। इस प्रकार 'ईथर और शक्ति' पर आकर अब विज्ञान अड़ा है।

ईथर है किस प्रकार का, इसे समझने के लिये वैज्ञानिक बुद्धि लड़ा रहे हैं। पृथ्वी जो ईथर के बीच घूमती है तो क्या सचमुच उसे चीरती हुई घूमती है। यदि चीरती हुई घूमती है तो इस रगड़ का परिणाम बड़ा भारी होगा। चलती हुई वस्तु यदि बराबर रगड़ खाती हुई जायगी तो उसका वेग

बराबर धीमा होता जायगा। इससे पृथ्वी अपने वेग के बल से सूर्य से दूर जो मंडल बाँधकर भन्नाटे के साथ घूम रही है कभी न कभी वह मंडल टूट जायगा और वह सूर्य पर जा पड़ेगी। पर आजकल के गणितज्ञ ज्योतिषी इसकी उलटी कल्पना करने लगे हैं। वे कहते हैं कि जो स्थूल द्रव्य हम देखते हैं उससे कही अधिक घनत्व और शक्तिसंचय ईथर में है। वह ठोस सीसे से भी न जाने कितने लाख गुना ठोस होगा। पृथ्वी आदि जो स्थूल लोकपिंड हैं उन्हें ईथर के बीच बीच मे खाली या खोखले स्थान समझिए!

अस्तु, अब ईथर और शक्ति मे क्या संबंध है, यह देखना है। यह बड़ी ही गूढ़ समस्या है। ईथर के संबंध मे जो मोटी धारणा बँधती है वैज्ञानिक कहते है वह ठीक नहीं है। हम यह समझते हैं कि ईथर एक निष्क्रिय अखंड सूक्ष्म भूत का विस्तार है जिस पर या जिसके आश्रय से द्रव्य क्रिया (आकर्षण, प्रकाशप्रवाह) करता है। सर आलिवर लाज कहते हैं यह खयाल गलत है। ईथर गतिशक्ति का अनन्त भाण्डार है। परमाणुगत शक्ति के समान यह शक्ति भी पकड़ मे नहीं आती। यदि पकड़ में आ जाय तो इससे बात की बात मे प्रलय उपस्थित किया जा सकता है।

हैकल ने अपने ग्रंथ मे जगह जगह "प्रकृति के नियम" या "परम तत्व के नियम" की झड़ी बाँध दी है। यह वाक्य बहुत ही भ्रामक हो गया है। लोग इसका बहुत ही अतिव्याप्त अर्थ लेते हैं। 'दो और दो चार होते हैं' यह भी प्रकृति का नियम, 'गतिशक्ति का क्षय नहीं होता' यह भी प्रकृति का

नियम। 'दो और दो चार होते हैं' इसे प्रकृति का नियम नहीं कहना चाहिए। प्रकृति के जितने परिणाम या व्यापार होते हैं वे इस गणित के नियम के आधार नहीं, उनपर यह अवलंबित नहीं, उनसे यह सर्वथा स्वतंत्र है। यह चिन्तन का नियम है, इसका संबंध चित् से है। जिसे हम प्रकृति का नियम कहते हैं वह सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। जितने दिक्कालखंड तक हमारी पहुँच है वह उतने ही के बीच के व्यापारों से संग्रह किया हुआ है। पर तर्क और गणित के जो नियम है वे अपरिहार्य्य सत्य है, उनके अन्यथा होने की भावना त्रिकाल मे नही हो सकती। वाह्य जगत् पर वे निर्भर नही, उससे सर्वथा स्वतंत्र हैं। वे स्वतःप्रमाण हैं। भौतिक विज्ञान मे जो 'प्रकृति के नियम' कहलाते हैं उनकी सत्यता भौतिक व्यापारों या परिणामों के संबंध में ठीक उतरने पर अवलंबित है।

जगद्विकाश का सिद्धांत यही प्रतिपादित करता है कि प्रकृति परिणामपरंपरा मे एक अवस्था मात्र है। 'प्रकृति के नियमो' के संबंध मे हम लाख कहा करे कि वे सब काल और सब देश को देख कर निरूपित हुए हैं पर हम अपनी बात का पूर्ण निश्चय नहीं करा सकते।

इसमे संदेह नही कि विकाशसिद्धांत के नियमो की चरितार्थता के लिये वैज्ञानिक निरंतर प्रयत्न करते जा रहे है जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की

योजना मे अब तक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की उन्हे ठीक धारणा ही नही रही है। वे अमीवा (अणुजीव) या अणूद्भिद् को आदिम रूप मान कर चले है । पर अमीवा या अणूद्भिद् को जिस जटिल रूप मे हम देखते हैं वह लाखो वर्ष की विकाशपरपरा का परिणाम है । अतः सजीव द्रव्य का आदिम रूप इन दोनो से कही सूक्ष्म और सादा रहा होगा । अणुजीव और अणूद्भिद् दोनों का आहार सजीव द्रव्य है । अतः ये आदिम नमूने कभी नही हो सकते। सजीव द्रव्य का आदिम रूप उद्भिदो का सा रहा होगा जो निर्जीव द्रव्य को सजीव द्रव्य (शरीरधातु) में परिणत कर सकते हैं । प्रथम जीवोत्पत्ति जल मे ही हुई इसका एक नया प्रमाण एक फरासीसी शरीरविज्ञानी ने उपस्थित किया है । उसने कहा है कि रक्त मे लवण आदि का योग उसी हिसाब से है जिस हिसाब से पूर्वकाल के समुद्रजल मे रहा होगा ।

पहले के वैज्ञानिको को परमाणुओ के भीतर की गतिशक्ति की ओर ध्यान नही था, इससे द्रव्य की मूल व्यष्टियो के व्यापार को समझने के लिये उन्हे शक्ति का वाहर से आरोप करना पड़ता था । पर अब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के केद्रो का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अंतर बहुत कुछ कम हो गया है। कुछ विशेष प्रकार के परमाणु किण्व या खमीर (जो वास्तव में सूक्ष्मातिसूक्ष्म किण्वाणुओ या अणूद्भिदो द्वारा संघटित होता है) का काम करते हैं । आजकल

कई रासायनिकों ने विशेष विशेष परमाणुओं के योग से ही (महुए, आटे, राई आदि सजीव द्रव्य के अवशेषों से तो लोग बहुत दिनों से बनाते आते हैं) मदसार (अलकोहल) और कुछ सादे प्रकार के प्रोटीन (शरीरधातु) तक संघटित कर लिए हैं। ये द्रव्य पहले पौधों या जंतुओं के शरीरद्रव्य में ही पाए जाते थे इससे लोग समझते थे कि ये शरीर के भीतर ही बन सकते हैं। पहले इन शरीरद्रव्यों से संबंध रखनेवाले रसायनशास्त्र का अलग विभाग था। पर अब यह भेद नहीं रहा। रसायनशास्त्र से शरीरद्रव्य और साधारण द्रव्य का भेद अब उठ गया।

किण्वसम्बन्धी रसायन बराबर उन्नति करता जा रहा है। कई प्रकार के किण्व या खमीर, पौधों या जंतुओं से प्राप्त शरीरद्रव्य के आश्रय के बिना, कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से बना लिए गए हैं। सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक यही विधान पहुँच सका है, और इसीसे बहुत कुछ आशा है। सजीवता वा जीवन वास्तव में किण्व-परंपरा ही है*। जितने सजीव पदार्थ हैं सबके शरीर में किण्व वर्त्तमान हैं। किण्वक्रिया के बंद होते ही जीव मर जाते हैं। गर्भपिंड से लेकर जीवों की जो अंगवृद्धि होती है वह अंकुर-घटक के भीतर किण्वविधान के ही अनुसार।

---

* पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारितत्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।—चार्वाक। (सर्वदर्शनसंग्रह)।

जात्यंतर-परिणाम के अंतर्गत प्राणियो के ढाँचे के भेद-विधान के संबंध मे डारविन ने जो निरूपण किया था उस पर भी इधर बहुत कुछ छानबीन हुई है। प्रो० बेटसन (Bateson) ने इस विषय का उत्पत्तिविज्ञान के नाम से अलग ही विचार किया है। उन्होंने कहा है कि भेदविधान दो प्रकार के होते हैं—(१) अखंड वा व्यापक और (२) विशिष्ट। डारविन ने अपने प्राकृतिकग्रहण-सिद्धांत में केवल प्रथम का विचार किया है, दूसरे का नही। पर कुछ भेद जो जात्यंतर के लक्षण माने जाते हैं एकही पुश्त मे साधारण भेदविधान द्वारा उपस्थित हो सकते हैं। सच पूछिए तो उत्पन्न प्राणी के लक्षणो मे से बहुत थोड़े ऐसे होते है जो मातापिता के धातुगत लक्षणो से सघटित होते हैं। इन लक्षणो की प्राप्ति भी कुछ बँधे नियमो के अनुसार होती है। जैसे, यदि मातापिता मे से किसी मे कोई लक्षण विशेष नहीं है तो किसी संतति मे वह लक्षण न होगा। यदि दोनो मे कोई एक लक्षण वर्तमान है तो सब बच्चो मे वह पाया जायगा। यदि कोई लक्षण मातापिता मे से एक ही मे है, दूसरे मे नही तो आधे लड़को मे वह होगा आधे मे नही। इसमे एक बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि लक्षण की एक स्थिर मात्रा रहती है जैसे यदि मातापिता मे से एक ही में कोई लक्षण है तो आधे संतानों मे ही वह लक्षण जायगा।

विकाशवाद जगत् की समस्याओ के संबंध मे हमारा कहाँ तक समाधान करता है चलती नजर से यह भी देख लेना चाहिए।

जगत् के संबंध मे दो प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है—

(१) यह जगत् क्या है, अर्थात् इसकी मूल सत्ता किस प्रकार की है ? (२) जगत् के नाना व्यापार किस प्रकार होते हैं ? उस गति का विधान कैसा है जिसके अनुसार नाना पदार्थ अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विकाशसिद्धांत का संबंध असल में दूसरे प्रश्न से है। उसी का उत्तर उसके निरूपण देते हैं। सत्ता की मीमांसा विकाश का विषय नहीं। पर दार्शनिक प्रवृत्ति रखनेवाले हैकल ऐसे विकाशवादी नाना व्यापारों को सत्ता के लक्षण मान उसके अनुमान में भी प्रवृत्त होते हैं।

इस जगत् के अंतर्गत दो प्रकार के व्यापार देखने में आते हैं—भौतिक और मानसिक। इन दोनों के उत्तरोत्तर क्रमविधान का वैज्ञानिक निरूपण विकाशवाद करता है। इन निरूपणों को दो दृष्टियों से हम देख सकते हैं—द्वैत दृष्टि से और अद्वैत दृष्टि से।

द्वैत पक्ष यह है कि भूत और आत्मा (अंतःकरण विशिष्ट आत्मा) दो सर्वथा पृथक् सत्ताएँ हैं। भौतिक व्यापार और मानसिक व्यापार दोनों एक ही नहीं हैं। अद्वैत पक्ष दो प्रकार का है—(क) आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक अद्वैतवाद केवल एक महाभूत की सत्ता मानता है और आत्मा या मन को उसी का एक गुण या अभिव्यक्ति विशेष कहता है। इसके अनुसार आत्मा कोई अलग तत्त्व या सत्ता नहीं। हैकल ने स्पिनोज़ा के जिस तत्त्वाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है वह इससे विशेष भिन्न नहीं। हैकल के अनुसार भौतिक और मानसिक एक ही परमतत्त्व के दो

पक्ष या रूप हैं। एक ही तत्त्व या सत्ता की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है—द्रव्य या भूत के रूप में तथा गति शक्ति या आत्मा के रूप में। अर्थात्, आत्मा एक प्रकार की गति या शक्ति का ही नाम है। जिस प्रकार पानी का बहना, हवा का चलना, बारूद का भड़कना आदि गतिशक्ति के रूप हैं उसी प्रकार बोध करना और सोचना विचारना भी। हैकल की अद्वैत सत्ता चेतन नहीं, उसके सिद्धांत में चेतना एक गुणपरिणाम है जो अनेक परिणामों के उपरांत उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। यह वैज्ञानिक या आधिभौतिक अद्वैतवाद है।

(ख) आध्यात्मिक अद्वैतवाद केवल आत्मसत्ता ही मानता है। उसके अनुसार चैतन्य ही एक मात्र सत्ता है। भौतिक जगत् या उसके नाना रूपों को वह आत्मा के विविध भाव मात्र कहता है। आधुनिक दर्शन में इसी मत की प्रधानता है। इसे योरप का वेदांत कह सकते हैं। इसके प्रतिष्ठाता जर्मनी में हुए हैं।

प्रकृति में जितने व्यापार या परिणाम हम देखते हैं द्वैत या अद्वैत दृष्टि के अनुसार उनके दो प्रकार के कारण हम सोच सकते हैं—निमित्त कारण और समवायिकारण। द्वैत पक्ष के अनुसार जितने व्यापार होते हैं सब किसी निमित्त या उद्देश्य से होते हैं और उद्देश्य को धारण करनेवाला कारण भूतों से परे है। भूतातीत नियंता या विश्वविधायक आत्मा माननेवाले समस्त भौतिक क्रियाओं को उद्देश्य द्वारा प्रेरित मानते हैं। ये समवायि कारणों को निमित्त कारण के अधीन मानते हैं।

जो विधायक आत्मा को भूतसमष्टि विश्व में समवेत या ओतप्रोत मानते हैं वे भी इन्हीं के अंतर्गत लिए जा सकते हैं क्योकि अद्वैतवादियो के अंतर्गत वे नहीं आ सकते। आधिभौतिक अद्वैतवादी कहते हैं कि समवायिकारण ही मानने से प्रकृति के सब व्यापारो की सम्यक् व्याख्या हो जाती है, उद्देश्य रखनेवाले किसी निमित्त कारण को मानने की आवश्यकता नहीं। भूतद्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा ही जगत् का विकाश होता है। वे किसी भूतातीत नियंता का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते और न आत्मा को कोई नित्य चेतन पदार्थ मानते है। संपूर्ण व्यापार द्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा आप से आप होते हैं। *

आधिभौतिक पक्षवालो को चेतना की व्याख्या मे अड़चन पड़ती है सर्वथा जड़ से चेतन की उत्पत्ति वे समाधानपूर्वक नहीं समझा सकते है। इस बाधा से बचने के लिये वे दो निकास निकालते हैं। कुछ लोगों को तो ईथर के समान एक अत्यंत सूक्ष्म मूल मनोभूत (जो प्रकृति या प्रधान भूत का ही एक विकार है) या आत्मभूत की कल्पना करनी पड़ी है जिससे प्राणियो के मन या आत्मा की योजना हुई है। कुछ

---

* सांख्य मे भी प्रधानभूत या प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम कहा गया है, उसमे प्रवृत्ति आपसे आप होती है, किसी की प्रेरणा से नहीं। प्रकृति जड़ है, अतः यह प्रवृत्ति भी अचेतन है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य ॥—कारिका ५७

लोग प्रत्येक भूतखंड मे किसी न किसी रूप का संवेदन मानते है और कहते हैं कि अणुओं और परमाणुओ के परस्पर आकर्षण और अपसारण को संवेदन का मूलरूप समझना चाहिए। हैकल के सिद्धांत मे इन दोनो का मेल है।

विकाशवाद को दार्शनिक रूप हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा ही प्राप्त हुआ है। उसी ने उसके नियमो को विश्वव्यापक रूप दिया है। उसने विकाश की परिभाषा इस प्रकार की है—"एकरूपता या निर्विशेषता से अनेकरूपता या सविशेषता की ओर, अव्यक्त से व्यक्त की ओर गति का नाम विकाश है"। इस गति का कारण द्रव्य मे समवेत है। भौतिक शक्ति के व्यापक नियमो द्वारा ही इसका विधान होता है। उससे परे किसी और शक्ति की प्रेरणा अपेक्षित नही। निर्विशेषता या साम्यावस्था क्षणिक होती है और एक कारण से अनेक कार्य्य होते है, अत: विकाश अनिवार्य्य है। गतिशक्ति के संयोजक और वियोजक जो दो रूप हैं उन्ही के द्वंद्व का परिणाम चला चलता है। इस परिणामपरंपरा की प्रवृत्ति दोनो शक्तियो के साम्य की ओर रहती है अत. विकाश या विकृति के नाना रूप कभी न कभी प्रकृतिस्थ हो कर नष्ट होगे। प्रकृति से फिर विकृति होगी। यह क्रम बराबर चला चलता है।

इन नियमो का निरूपण करके स्पेसर ने इन्हे जड़ जगत् की उत्पत्ति और सजीव सृष्टि के विकाश पर घटाया है। मन या अंत करण के विकाश को भी इन्हीं नियमों के अंतर्गत करके उसने समाज के विकाश की मीमांसा की है। वाह्य विषयों के साथ अंतर्व्यापारों के सामंजस्य का ही नाम जीवन

है। जीवों की उत्पत्ति-परंपरा मे जब यह सामंजस्य एक विशेष जटिल अवस्था को पहुँच जाता है तब मन (चेतना जिसकी वृत्ति है) का प्रादुर्भाव होता है। शक्तिसंयुत द्रव्य के साथ साथ कोई नित्य चेतन सर्वसत्ता भी ओतप्रोत भाव से रहती है इस विषय मे उसने कुछ नहीं कहा है। चेतना को उसने उन्ही प्राणियो मे माना है जिनमें संवदनसूत्रो और मस्तिष्क का पूर्ण विधान होता है। चेतना को उसने कोई एकांतिक अखंड सत्ता न कह कर एक यौगिक व्यापार ही कहा है जिसकी गूढ़ योजना अत्यंत सादे और सूक्ष्म अव्यक्त संवेदनो के योग से होती है। स्मृति, संकल्प, विवेचना, मनोवेग इत्यादि सब वृत्तियाँ इन्ही आदिम मूल संवेदनो के संबंधभेद से संघटित है। अंतःकरण-वृत्तियो के नाना रूपो की संप्राप्ति बाह्य विषयो के साथ सामंजस्य-प्रयत्न द्वारा होती है। दिक्संबंधी, * धर्म-

---

* रेखागणित के निरूपण दिक् संबंधी होते हैं, जैसे, 'केवल दो रेखाएँ कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, 'दो समानांतर रेखाएँ कभी नहीं मिल सकतीं'। ऐसे निरूपणो को भी ह्यूम आदि संवेदनवादी दार्शनिको ने स्वतःसिद्ध न कह कर अनुभवसिद्ध बतलाया है। यह देखते देखते कि दो रेखाए कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, दो समानातर रेखाएं कभी नहीं मिलतीं' मनुष्य जाति के भीतर लाखो पीढियो से जो संस्कार बँधा चला आया है उसी के कारण ये बाते स्वतः सिद्ध सी जान पड़ती हैं। आत्मसत्तावादी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन्हे इंद्रियज संवेदनों से प्राप्त नहीं मानते। वे कहते है कि हमारा जो यह निश्चय है कि ऐसा होना त्रिकाल में और किसी

सम्बधी आदि जो सासिद्धिक भाव कहे जाते हैं वे पूर्वजो के अनुभव की अखंड परंपरा द्वारा प्राप्त हुए हैं। जिन कार्य्यों से सुख का अनुभव हुआ वे प्राणी के लिये लाभदायक और जिनसे दुःख का अनुभव हुआ वे हानिकारक पाए गए। अत. कुछ कार्य्यों के आभास से प्रसन्नता और कुछ के आभास से भय वा विरक्ति मस्तिष्क या अंत करण मे संस्कार रूप मे मूलबद्ध होती गई और पीढ़ी दर पीढी चली आई। आरभ मे यह हानिलाभ का विचार या कार्य्यकारण का भाव स्पष्ट था पर क्रमश. वह दब गया अर्थात् कुछ कार्य्यों के साक्षात्कार से आनंद और कुछ के साक्षात्कार से भय वा विरक्ति विना हानिलाभ या परिणाम आदि की भावना के यो ही बद्ध संस्कार के रूप में होने लगी। वहुत छोटे गोद के बच्चे को जब हम क्रूर आकृति बना कर डाँटते हैं तब वह रोने लगता है और जब हँस हँस कर बुलाते हैं तब प्रसन्न होता है। उस बच्चे को कार्य्यकारण के अनुमान की शक्ति नहीं रहती, वह यह नही जानता कि क्रूर आकृति का परिणाम चपत या प्रसन्न आकृति का परिणाम मीठा दूध है। वह जो भय या आनन्द प्रकट करता है उस का कारण उस अंतःकरण-द्रव्य मे बद्ध संस्कार है जिसकी परंपरा लाखो पीढ़ियो से बच्चे तक चली आई है।

इस प्रकार आदिम काल मे ही मनुष्य जाति के बीच यह

लोक मे संभव नहीं वह वाह्य पदार्थों या व्यापारों द्वारा उत्पन्न परिमित ज्ञानों से प्राप्त नहीं हो सकता। वह दिक् काल आदि से अपरिच्छिन्न सत्ता का लक्षण है।

संस्कार जम गया कि जिन कार्य्यों से औरो की आकृति क्रूर हो जाय उनसे बचना और जिनसे प्रसन्न हो उन्हे करना चाहिए। अर्थात् आरंभ मे भय और आनंद द्वारा ही उपादेय और अनुपादेय का भाव उत्पन्न हुआ। यही मूलभय क्रमश. देवभय आदि के रूप मे और मूल आनंद देवतुष्टि या स्वर्ग आदि के आनंद के रूप मे विकासित हुआ। दयाधर्म के संबंध मे आधिभौतिक विकाशवादियो का कहना है कि उसकी उत्पत्ति सहानुभूति से है जिसका विकाश समाज बॉध कर रहनेवाले प्राणियो मे स्वाभाविक है। एक ही प्रकार का आहार विहार रखनेवाले प्राणी जब एक दूसरे के समक्ष एकही प्रकार के मनोद्गार प्रकट करते है तब उन मनोद्गारो के संबंध मे भी एक प्रकार का मानसिक सहयोग स्थापित हो जाता है। यही सहानुभूति है जिसके कारण मनुष्य दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बचता है और दूसरे की पीड़ा देख कर दुखी होता है। सौन्दर्य्य की ओर जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह एक प्रकार की फालतू वृत्ति या क्रीड़ावृत्ति है जो प्रयोजन से अधिक मानसिक वृत्तियो के विकाश के कारण उत्पन्न होती है।

स्पेसर ने शरीरविकाश और समाजविकाश का तारतम्य दिखा कर कहा है कि जिस प्रकार प्राणी की जीवनयात्रा उपस्थित बाह्य विषयो के साथ आभ्यंतर वृत्तियो का सामंजस्य-प्रयत्न है उसी प्रकार प्राणियो की समष्टि या समाज की जीवन-यात्रा भी। अतः वह युग आवेगा जब यह सामंजस्य पूर्ण रूप से स्थापित हो जायगा और मनुष्य-जीवन आनन्दमय हो जायगा।

स्पेंसर ने विकाश की जो व्याख्या की है वह आधिभौतिक ही है। सब प्रकार की चेतना को उसने मूल संवेदनो से संघटित बताया है जो सूत्रों की अणुस्पंदन रूप गति के सहगामी हैं। पर उसने यह भी कहा है कि इन संवेदनो को हम उसी भौतिक गतिका रूप नही कह सकते जिसे हम चारो ओर देखते है। विषय और विषयी को, ज्ञाता और ज्ञेय को किसी प्रकार एक नही समझते बनता *। इस प्रकार भूतक्रिया और मनोव्यापार का पृथक्त्व स्वीकार करते हुए भी उसने दोनो को एक ही अज्ञेय सत्ता के दो पक्ष या रूप कहा है। पर इस रीति से अद्वैतपक्ष पर आने पर भी द्रव्य और मन (या आत्मा) की पृथक् भावना द्वारा उसका द्वैतवाद लक्षित होता है। हैकल के समान उसने जड़ और चेतन व्यापारो को एक ही नहीं कहा है, दोनो को अलग रखा है। हैकल ने परमतत्व के जो दो पक्ष कहे हैं वे द्रव्य और गतिशक्ति (जिसके अंतर्गत संवेदन, संकल्प विकल्प, आत्मबोध आदि मनोव्यापार भी है) है। स्पेसर ने अज्ञेय सत्ता के जो दो पक्ष कहे है वे गतिशक्तियुक्त द्रव्य और मन हैं। "मन (चेतन अवस्थाएँ) और संवेदनसूत्रो की भौतिक क्रिया एक ही वस्तु के विषयी और विषय अर्थात् ज्ञातृ और ज्ञेय दो पक्ष हैं। दानों के एक ही वस्तु के रूप या विभाव होने का प्रमाण उनका नित्य संबंध है। वह वस्तु या सत्ता जिसके ये दोनो पक्ष हैं ज्ञेय पक्ष मे नही आ सकती।

इस प्रकार वस्तु या सत्ता के विवेचन मे उसने अपने को भूतवादी कहे जाने से यह कह कर बचाया है कि "एक

* ज्ञेयं ज्ञेयमेव ज्ञाता ज्ञातैव न ज्ञेय भवति—गीता, शकर भाष्य १३।३

अज्ञेय सत्ता है जो भौतिक और मानसिक (या आध्यात्मिक) दोनों क्षेत्रों मे अभिव्यक्त होती है"। इस अज्ञेय सत्ता को उसने प्रायः शक्ति के नाम से अभिहित किया है जो कहीं कहीं (उसी के ग्रंथ मे) भौतिक गतिशक्ति से भिन्न नहीं जान पड़ती। स्पेंसर की अज्ञेय मीमांसा के साथ उसकी विकाश की व्याख्या मेल नहीं खाती। सच पूछिए तो उसका विकाशवाद उसके अज्ञेयवाद पर प्रतिष्ठित ही नहीं है। सत्ता के विवेचन में उसने जो निरूपण किए हैं उनसे उसने विकाश की व्याख्या मे कुछ भी काम नहीं लिया है। न तो उसने यह बताया है कि अज्ञेय सत्ता क्यो देश काल के भीतर अभिव्यक्त होती है और न यह कहा है कि वह क्यो पहले जड़ जगत् के रूप मे व्यक्त हुई, पीछे चैतन्य रूप मे।

यहाँ तक तो हर्बर्ट स्पेसर की बात हुई। अब यह देखना चाहिए कि विकाशवाद जगत् की व्याख्या मे कहाँ तक पहुँचा है। विकाशवाद भौतिक और मानसिक दोनो व्यापारो की परिणामपरंपरा की व्याख्या करता है और इस प्रकार सपूर्ण जगत् की समस्या को अपने अंतर्भूत करता है। पर बहुत सी बाते ऐसी रह जाती है जिनके संबंध मे हमारा ठीक ठीक समाधान नहीं होता। कुछ उदाहरण लीजिए। विकाशवाद यह नहीं बता सका है कि क्यो एक पुरातन प्रधान भूत निर्वि-शेषता से सविशेषता की ओर, एकरूपता से अनेकरूपता की ओर प्रवृत्त होता है, प्रकृति की विकृति का कारण क्या है। इसी प्रकार जड़ से चेतन की उत्पत्ति का ब्योरा भी वह स्पष्ट रीति से नहीं समझा सका है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या विकाशवाद जगत् के समस्त व्यापारों के मूल की सम्यक् व्याख्या कर देता है? सच पूछिए तो उसकी पहुँच की भी हद है। शरीरविकाश और आत्मविकाश को ही लीजिए। शरीरव्यापार और मनोव्यापार दोनो में एक ही प्रकार के नियमो की चरितार्थता, दोनो का साथ साथ उत्तरोत्तरक्रम से विकाश, दिखाया गया है सही, पर दोनो एक नहीं सिद्ध हो सके हैं। विकाशवाद के सारे निरूपण मन या आत्मा की प्रथमोत्पत्ति नहीं समझा सके हैं। और तो जाने दीजिए किस प्रकार संवेदनसूत्र का भौतिक (स्थूल) स्पंदन संवेदन के रूप मे परिणत हो जाता है यही रहस्य नहीं खुलता। इस प्रकार का और कोई परिणाम भौतिक जगत् मे देखने मे नहीं आता। इस कठिनता को कुछ लोग यह कह कर दूर किया चाहते हैं कि द्रव्य के प्रत्येक परमाणु मे एक प्रकार की अंतःसंज्ञा या अव्यक्त संवेदन होता है जो आकर्षण और अपसारण के रूप मे प्रकट होता है। पर हम तो चेतना (मन की अपने ही संस्कारो के बोध की वृत्ति) की उत्पत्ति जानना चाहते हैं जिससे यह अंतःसंज्ञा भिन्न है। हैकल ने मस्तिष्क के भीतर प्रतिबिंब या संस्कार ग्रहण करनेवाला जो एक ग्राप्यकारी अवयव बताया है उससे भी चेतना का व्यापार समझने में सुबीता नहीं होता। केवल यही कह देने से कि एक वस्तु पर प्रतिबिंब पड़ता है यह समझ में नहीं आ जाता कि वह वस्तु यह बोध भी करती है कि मुझ पर प्रतिबिंब पड़ रहा है या प्रतिबिंब इस प्रकार का है*।

---

* यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वैज्ञानिकों ने "शक्ति

ऐसी बातों में हमारा समाधान विकाशवाद द्वारा नहीं होता। विकाशवाद केवल गोचर व्यापारो की पूर्वापरपरंपरा या स्फुरणक्रम मात्र दिखाता है। ये सब व्यापार किसके हैं, वस्तु या सत्ता का शुद्ध (इंद्रियानिरपेक्ष) स्वरूप क्या है यह वह नहीं बताता। वह केवल तटस्थ लक्षण कहता है, स्वरूप लक्षण

की अक्षरता" के सिद्धात को ले कर यह प्रतिपादित किया है कि न भौतिक शक्ति किसी अभौतिक शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है और न कोई अभौतिक शक्ति भौतिक शक्ति में कोई वृद्धि (अतिशय) या विकार कर सकती है। मनोविज्ञानियो ने इसी आधार पर यह सिद्धात स्थिर किया कि शरीर-व्यापार और मनोव्यापार एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते अर्थात् उनमें कार्यकारण सबंध नहीं, वे दोनों समानातर (साथ साथ पर अलग अलग) चलते हैं। जब आधि-भौतिक अद्वैतवादी इस बात को अपनी ओर यह सिद्ध करने के लिये ले गए कि जगत् किसी आत्मसत्ता या चेतन का कार्य्य नहीं है और प्राणियो के प्रयत्न किसी अभौतिक सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं होते तब ईश्वरकर्तृत्ववादी इसके खडन के प्रयास में लगे (दे० भूमिका पृ० ८४)। पर हमारे यहाँ वेदात में क्रिया मात्र से शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) की भावना अलग होने से उपर्युक्त वैज्ञानिक सिद्धात स्वीकृत है। उप-देशसाहस्री की टीका (१०।११२) मे स्पष्ट लिखा है कि "सन्निहिता-ध्यक्ष कृतातिशयः बुद्ध्यादेर्नास्त्येव"। यह भी खोल कर लिखा गया है कि बुद्ध्यादि जड़ क्रिया और ज्ञान में केवल "समकालाभिव्यक्ति-धर्म" के सिवा और कोई संबध नहीं है। यह वेदांत का Psycho-physical parallelism है।

नहीं। अतः सत्ता के विवेचन के लिये हमें विज्ञान-क्षेत्र से निकल कर परा विद्या या शुद्ध दर्शन की ओर आना पड़ता है।

यह जगत् क्या है ? इसकी सत्ता का वास्तव स्वरूप क्या है ? इस संबंध मे दर्शन मे दृष्टिभेद से तीन पक्ष है (१) भूतवाद या लोकायत मत जिसके अनुसार शरीर या भूत ही एक मात्र सत्ता है; (२) अद्वैत आत्मवाद या भाववाद। अद्वैत आत्मवादियो मे कुछ लोग तो आत्मा को एक वस्तु या सत्ता मानते हैं और कुल लोग बौद्धो के समान क्षणिक विज्ञानो या चेतन अवस्थाओ को ही मानते हैं। पर दोनो दल के लोग भौतिक शरीर या बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता अस्वीकार करते है। (३) बाह्यार्थवाद, * जो भूत और आत्मा दोनो को भिन्न सत्ताएँ मान कर बाह्य जगत् को वास्तविक कहता है।

(१) भूतवाद के अनुसार जो कुछ है वह भूत ही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह उसकी व्यापारसमष्टि या गुण विशेष मात्र है। यद्यपि हैकल ने अपने मत का नाम भूतवाद नहीं रखा है पर है वह भूतवाद ही। जगत् के मूल उपादान या प्रधान भूत तक पहुँच कर उसने उसका नाम परमतत्व रखा जो नित्य है और अपने नित्य नियमो से बद्ध है। उस परम-तत्त्व की अभिव्यक्ति द्रव्य और गतिशक्ति दो रूपो मे होती है। मूल वृत्ति या प्रवृत्ति ही उसका संवेदन (जड़ संवेदन) †

---

* एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते।—सूत्र २८ पर, शंकर भाष्य।

† उपनिषदों में इसे प्राणशक्ति कहा है जिससे चैतन्य भिन्न है।

है जिसके कारण वह स्थान स्थान पर घनीभूत हो कर अनेकत्व की ओर प्रवृत्त हुआ। परमाणुओं की प्रवृत्ति में वह कुछ और अधिक व्यक्त हुआ। शुक्र कीटाणुओ और रजः कीटाणुओ मे हैकल ने घटकात्मा कहा, गर्भांड में अंकुरात्मा, पौधो मे तंत्वात्मा और जंतुओं में सूत्रात्मा। इस प्रकार संवेदन को भूत का व्यापक गुण मान कर उसने अपने सिद्धांत का नाम भूतवाद न रख कर तत्त्वाद्वैतवाद रखा। पर उसका यह संवेदन जड़ ही है अतः उसका जड़ाद्वैतवाद वास्तव मे भूतवाद ही है। चैतन्य को असंहत नित्य सत्ता का स्वीकार उसमे नहीं है। उसके संवेदन को यदि हम एक प्रकार का आत्मव्यापार मान भी ले तो भी वह क्रिया या गुण मात्र ही है, वस्तु या सत्ता नहीं।

भारतवर्ष का चार्वाक या लोकायत मत भी इसी प्रकार का था जो चैतन्यविशिष्ट देह के अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार करता था *। चार्वाको का कहना था कि जिस प्रकार किण्व या खमीर से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार देहाकारपरिणत भूतचतुष्टय से चैतन्य उत्पन्न होता है। भूतों के इस संयोग विशेष के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।

(२) योरप में अध्यात्मवाद या भाववाद का आरंभ डेकार्ट के इस सूत्र से समझना चाहिए कि "मैं बोध करता हूँ इस लिये मैं हूँ"। उसने कहा जो कुछ बोध आत्मा को

---

* चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा, देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।—चार्व्वाक (सर्वदर्शनसंग्रह)।

होता है वह अपने भावो या प्रत्ययों का ही। अतः यदि किसी सत्ता का पूर्ण निश्चय है तो आत्मसत्ता का। पर ईश्वर की कृपा से आत्मा के प्रत्ययों या भावो द्वारा हम दो प्रकार की सत्ताओ—दिग्बद्ध वस्तु (भूत) और ज्ञातृवस्तु या आत्मा—का अनुमान कर सकते है। सच पूछिए तो अद्वैत आत्मवाद का आधार कांट ने खड़ा किया। उसी ने ज्ञान के मूल की विस्तृत परीक्षा की। बाह्य जगत् का ज्ञान हमे किस प्रकार होता है ? संवेदन द्वारा, अर्थात् हमारे अंतःकरण वा मन मे वस्तुसत्ता के प्रभाव से एक संस्कार उत्पन्न होता है और मन उसी का बोध करता है। जैसे, स्पर्श का जो ज्ञान है वह वस्तुतः दबाव का ज्ञान नही है, उस दबाव की भावना करानेवाले संस्कार या संवेदन का ज्ञान है। वर्ण का जो ज्ञान होता है वह वास्तव मे वर्ण का ज्ञान नही है, वर्ण के उस संवेदन का ज्ञान है जो अंतःकरण या मन मे ही होता है। अर्थात्, मन को जिन रूपो का बोध होता है वे उसी के रूप है, किसी बाहरी वस्तु के नही। प्राप्त संवेदनो को देश काल के साँचे मे ढाल कर ही मन उनका ग्रहण करता है।

मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा करके कांट ने यह निर्धारित किया कि उसका कितना अंश बाहर से प्राप्त होता है और कितना मन मे पहले ही से आधार या मूल के रूप मे वर्त्तमान रहता है। ये आधार या मूल चित् के स्वरूप ही हैं, ये स्वतः प्रमाण है, इनके बोध या निश्चय के लिये किसी प्रकार का अनुमान या तर्क नही करना पड़ता। इस प्रकार ज्ञान के कुछ स्वरूपसिद्ध मूलाधार मान

कर कांट ने इंद्रियसंवेदन, मनन और प्रज्ञा या बुद्धि में उनको क्रमशः दिखलाया है। प्रत्यक्ष या इंद्रियज ज्ञान मे मूलाधार हैं दिक् और काल। दिक् और काल, इन्ही दो मूल स्वरूपो के भीतर सब प्रकार का प्रत्यक्ष (इंद्रियज) ज्ञान संभव है। मनन या अनुमान मे मूलाधार कुछ वर्ग या खंड होते है जिनमें प्राप्त संवेदनो या विषयों को बाँट कर मन अपने अनुमान को फैलाता है। तीन तीन भेदो से युक्त ये वर्ग चार है—परिमाण, गुण, सबंध और प्रकार। इन चार रूपो मे से किसी एक में आ जाने पर ही मन किसी वस्तु या विषय का ग्रहण कर सकता है। जो बाते इनमे नही आ सकती वे तर्क या अनुमान द्वारा सिद्ध नही हो सकती। अतः परमाणु, शून्य, ईश्वर, दैव आदि असिद्ध है। प्रज्ञा या बुद्धि के सांसिद्धिक स्वरूप है तीन भाव—ईश्वर, आत्मा और जगत्। बुद्धि इन्हे केवल विचार की व्यवस्था के लिये अपनी ओर से प्रदान करती है, इनका बोध नही करती। इनके द्वारा अनुमान के वर्गविधान परिमिति के कारण खंडित नही रह जाने पाते। ये प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा प्राप्त परिमित और बद्ध ज्ञान को अपरिमित और स्वतंत्र (बाह्यनिरपेक्ष) ज्ञान का स्वरूप देकर ज्ञान को पूर्णता और एकता तक पहुँचाते है। जैसे, इंद्रियज्ञान द्वारा जो देशकाल का आरोप होता है उसे लेकर देशकालगत सब विषयो को एक कर बुद्धि उसका नाम जगत् रखती है। अनुमान के जो खंड है उन सब को मिलाने से आत्मा का भाव बनता है। कारणता को लेकर सब से आदि कारण को हम ईश्वर कहते है। पर अनुमान के

वर्गों से जिस प्रकार हमे अपने से वाह्य वस्तु का जैसा विविक्त ज्ञान होता है प्रज्ञा या बुद्धि के इन आरोपित भावो से वैसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। बुद्धि अपनी ओर से इनका आरोप भर करती है, विषय रूप मे ग्रहण नहीं करती। इन भावो से केवल इतना ही होता है कि अनुमान के जो वर्गात्मक खंड हैं वे चरमावस्था को पहुँच जाते है, बस। ईश्वर आत्मा और जगत् क्या है बुद्धि नही स्थिर कर सकती। इस प्रकार कान्ट ने दिखाया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रज्ञा के जो सांसिद्धिक स्वरूप (देश, काल, वर्ग तथा ईश्वर आत्मा और जगत्) हैं वे वाह्य वस्तु के स्वरूप नही हैं, मन के स्वरूप है जिनमे लाकर वह वाह्य जगत् को देखता है। बुद्धि आदि द्वारा बाह्य जगत् का जो बोध होता है वह नामरूपात्मक है, वास्तव नही है। इंद्रिय और मन अपने रंगो में रँग कर जिन रूपो मे जगत् को देखता है उनसे स्वतंत्र उसकी वास्तव सत्ता किस प्रकार की है यह ज्ञान शुद्ध बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। अपनी 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' मे कान्ट ने ईश्वर, जगत् और आत्मा के पक्ष विपक्ष के प्रमाणों का खंडन किया है।

शुद्ध बुद्धि की परीक्षा के उपरांत कान्ट ने कर्मसंकल्प रूपिणी "व्यवसायात्मिका बुद्धि" को लिया है जिसके द्वारा कर्म होते हैं। कर्मक्षेत्र मे आकर हम नामरूपात्मक जगत् से परे वस्तुतत्व तक पहुँच जाते हैं। संकल्पित कार्यावली हमारे मन मे उत्पन्न होकर वाह्य जगत् मे अभिव्यक्त होती है। कर्म सकल्पवृत्ति ही चित् के वास्तव स्वरूप को सूचित करती है। यह न तो बुद्धि से बद्ध या नियंत्रित है और न बाह्य जगत् के

नियमो से। इस पर आदेश रखनेवाले केवल नित्य और सर्वगत धर्मनियम (Categorical Imperatives) हैं। ये धर्म-नियम व्यवसायात्मिका बुद्धि के स्वप्रवर्त्तित नियम हैं। कर्म-संकल्पवृत्ति का यह आत्मशासन (Autonomy of the will) हमे नामरूपात्मक दृश्य जगत् से अगोचर चिन्मय जगत् मे ले जाता है जहाँ हमे धर्मनियम, स्वतंत्र अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। इसी धर्मशासन द्वारा कान्ट ने ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। जीवन का चरम मंगल क्या है? न अकेला धर्म, न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वतःसिद्ध संबंध नहीं। जीवन के चरम मंगल मे धर्म और सुख दोनो की पराकाष्ठा है। अब इन दोनो का संयोग होता कैसे है? इसके लिये ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनो के बीच सयोग का स्थापक है। इसी प्रकार आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म की पराकाष्ठा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिये यह अल्पकालिक जीवन काफी नहीं है। अतः अनन्त जीवन मानकर चलना पडता है।

कुछ लोगों को व्यवसायात्मिकाबुद्धि-संबंधी इस निरूपण का कान्ट के दर्शन की मूलभित्ति के साथ विरोध दिखाई पडता है। पहले तो उसने यह कहा कि प्रत्यक्षानुभव के रूप में जिन मानस संस्कारो की उपलब्धि होती है उन्हे लेकर बुद्धि जो कुछ निरूपित करेगी वह भी मानस वस्तु होगी, चित का ही स्वरूप होगा; पीछे उसने कहा कि धर्म की व्य-वस्था के लिये वह वास्तव (चित्तनिरपेक्ष) पदार्थों का

आरोप करती है। पर यदि देखा जाय तो कान्ट ने वास्तव सत्ता के अस्तित्व की जगह यह कह कर पहले से ही रख ली थी कि मानस संस्कार अज्ञेय वस्तुसत्ता के प्रभाव से होते है और बहुत संभव है कि चित् के इन स्वरूपो की तह में जो वस्तुसत्ता है वह इन्हीं के कुछ कुछ मेल मे हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि कान्ट ने चित् या प्रमाता से बाह्य किसी अज्ञेय वस्तुसत्ता का अस्तित्व माना है। उसके दर्शन में बाह्यार्थवाद की कुछ गंध बनी हुई है।

सच पूछिए तो कान्ट का सब से बड़ा काम 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' ही है जिसके द्वारा उसने बाह्यार्थज्ञान के सामान्य अवयवो देश, काल और कार्यकारणसंबंध के बाह्य अस्तित्व का प्रतिषेध किया। योरप मे अद्वैत आत्मवाद का सूलाधार यही हुआ। नीचे संक्षेप मे कुछ प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं।

दिक् कोई बाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है।

(१) दिक् का ज्ञान बाहर से नही आता क्योकि जो कुछ प्रत्यक्षानुभव हमे होता है दिक् की भावना पहले करके तब होता है। प्रत्यक्षानुभव है क्या ? मन अपने कुछ संवेदनो को अपने से बाह्य वस्तु से प्राप्त मानता है। इस आन्तर और बाह्य के ज्ञान मे देश का ज्ञान पहले से मिला हुआ है। इसी प्रकार वस्तुभेद के ज्ञान मे परत्व अपरत्व का देशसंबंधी ज्ञान मिला हुआ है।

(२) बाह्य जगत् का जो चित्र अपने मन मे हम धारण

करते हैं उसमे से हम सब कुछ निकाल सकते हैं, पर देश को नही अलग कर सकते। जगत् के जितने पदार्थ है सब के बिना हम जगत् की भावना कर सकते हैं पर देशशून्य जगत् की भावना हमारे चित्त मे हो ही नही सकती।

(३) शुद्ध देश के सबंध मे जो निरूपण होते है वे अनिवार्य्य होते है, उनका अन्यथा सभव नही। जैसे किसी वस्तु तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि उसके और हमारे बीच जो देशखंड है वह तै किया जाय। इसी प्रकार किसी जगह न होना या एक साथ दो जगहो पर होना असंभव है। थोड़े विचार से यह स्पष्ट हो सकता है कि इस प्रकार के निश्चय उन निश्चयों से सर्वथा भिन्न है जो बराबर देखते देखते निरंतर अभ्यास द्वारा हमे प्राप्त होते हैं। अनुभव केवल हमे यही बता सकता है कि अबतक ऐसा नहीं हुआ है, यह निश्चय नहीं करा सकता कि त्रिकाल में ऐसा नही हो सकता।

(४) रेखागणित के सब निरूपण नित्य और अपरिहार्य्य सत्य के रूप मे होते है, अतः वे बारबार के अनुभव से प्राप्त नही है। कहने की आवश्यकता नही कि ये निरूपण शुद्ध देशसंबंधी होते है।

(५) प्रत्येक बाह्य अनुभव भिन्न भिन्न संवेदनो (आत्मा या मन की अलग अलग अवस्थाओ या संस्कारो) के योग से होता है जिनका मेरे साथ तो संबंध होता है पर परस्पर कोई संबंध नही होता। अतः उनको जोड़नेवाला सबधसूत्र चित् से बाहर नही है, उसके भीतर है। यह संबंधसूत्र देश है जो हमारे चित्त का ही भाव या स्वरूप है।

(६) दिक् अनन्त है। हमे इस बात का पूरा निश्चय है कि सौर जगत क्या अनेक सौर जगतो से परे, जहाँ तक न दूरबीन की पहुँच है और न हमारे अनुभव की, दिक् बराबर चला गया है। यह अनुभव की वात नही, अनंतता का अनुभव हमे बाहर से प्राप्त हो नही सकता।

काल कोई बाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है।

(१) काल की भावना जगत से नही प्राप्त होती क्योकि प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव मे काल की भावना पहले से मिली रहती है। प्रत्यक्षानुभव मे यह आवश्यक है कि संवेदन एक साथ हो या आगे पीछे। एक साथ या आगे पीछे होने का यह भाव कालसंबधी है।

(२) मान लीजिए कि जगत् की सारी गति, सारे व्यापार (घड़ियो के चलने से लेकर पृथ्वी आदि ग्रहो के घूमने तक) जिन से हम काल नापते है बंद हो जायँ, फिर भी काल बराबर चला चलेगा, एक क्षण के उपरांत दूसरा क्षण आता रहेगा। सब प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के लुप्त होजाने पर भी काल की भावना बराबर बनी रहेगी।

(३) कालसंबंधी निरूपण अपरिहार्य्य होते है, उनका अन्यथा सभव नहीं। जैसे किसी भविष्य काल तक रहने के लिये यह आवश्यक है कि वर्त्तमान काल और उस काल के बीच जितना काल है उतने मे रहा जाय, न कम मे न अधिक मे। विगत क्षण का लौटना असंभव है। इस प्रकार के

निश्चय किसी प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नही। कालिदास को कुछ लोग ई० पू० का मानते हैं और कुछ लोग ४ थी शताब्दी का। यदि कोई कहे कि दोनों संभव है तो वह विक्षिप्त समझा जायगा।

(४) अंकगणित के निरूपण भी इसी प्रकार अपरिहार्य्य होते है। यह शास्त्र कालसंबंधी है क्योकि यह गिनने की संक्षिप्त विधि मात्र है। गिनना एकाई का कई बार निर्धारण है जिसके लिये हम भिन्न भिन्न संकेत रख लेते हैं। 'कई बार' यह कालपरंपरा का भाव है अतः अंकगणित कालसंबधी शास्त्र है। उसके अपारिहार्य्य निरूपण काल का बाह्यनिरपेक्षत्व सिद्ध करते है।

(५) प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव कुछ काल तक मन के प्रभावित होने पर होता है। यह काल (चाहे कितना ही अल्प हो) कई सूक्ष्म खंडो के योग से बना होता है जिनके बीच कई सूक्ष्म अनुभव होते है। आत्मा के ये सूक्ष्म अनुभव मुझसे संबंध रखते है पर एक दूसरे से नही। वह सूत्र जिसमे वे पिरोए जाकर एक समवाय ज्ञान उत्पन्न करते है काल है जो अनुभवो द्वारा प्राप्त नहीं होता, चित्त द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

(६) काल अनादि और अनत है। हमे यह पूर्ण निश्चय है कि काल बराबर था और बराबर रहेगा। हमारा यह निश्चय किसी अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं, यह चित् से ही आता है।

कार्य्यकारणसंबंध बाह्य विषय नहीं, चित् का ही स्वरूप है।

जैसे दिक् वस्तुओं के अवस्थान की चित्तप्रयुक्त व्यवस्था है और काल परंपरा की, उसी प्रकार कार्य्यकारण-भाव वस्तुओं की क्रिया या व्यापार की व्यवस्था है जिसे चित्त अपनी ओर से प्रदान करता है। प्रत्येक कार्य विशेष का निर्धारण प्रत्यक्षानुभव द्वारा होता है, पर कार्य्यकारणभाव, जिसके बिना क्रिया या व्यापार की भावना संभव नहीं, अंत-रात्मा से ही आता है। प्रमाण—

(१) चित् का स्वरूप ही ऐसा है कि यदि किसी व्यापार का चित्र उसमें उपस्थित होता है तो उसका संबंध बिना किसी कारण से लगाए वह रह ही नहीं सकता। प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव में कार्य्यकारण-भाव समवेत रहता है। बाहर से जो कुछ हमें प्राप्त होता है वह अंतःकरण का संवेदनसूत्रों द्वारा संहृत संस्कार मात्र है। यदि हमारे मन में कार्यकारण-भाव का साँचा न होता तो उस संस्कार के द्वारा बाह्य वस्तु के होने का कुछ भी ज्ञान न होता। इसी भाव के द्वारा हम संस्कार को कार्यरूप से ग्रहण करते हैं और अपने से बाहर दिक् में उसके कारण का अवस्थान (स्थूल भूत के रूप में) करते हैं। कार्य्यकारण के भाव बिना बाह्य जगत् की प्रतीति का असंभव होना ही इस बात का प्रमाण है कि यह भाव हमें बाहर से प्राप्त नहीं होता, बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।

(२) शुद्ध कार्य्यकारण-भाव का चित्र हमारे मन में

उपस्थित नही हो सकता, विषय रूप मे जब वह उपस्थित होगा तब देशकाल के योग मे अर्थात् भूत के रूप मे। भूत वास्तव मे देशकाल-व्यवस्थित कार्य्यकारणभाव का ही नाम है। इस भूत का भाव परिहार्य्य अपरिहार्य्य दोनो है। इस भूत का भाव हम चित्त से निकाल सकते हैं, पर जो भूत है उसका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव मन मे नही धारण कर सकते। भूत के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव (उत्पत्ति और नाश) की धारणा का असंभव होना इस बात को सूचित करता है कि हम उपस्थित भूत के अस्तित्व को अपने मन से किसी प्रकार निकाल नही सकते। अतः वह आत्मसत्ता से स्वतंत्र नही हैं, अर्थात् भूत भी चित् द्वारा ही प्रदत्त भाव है।

(३) कार्य्यकारण-भाव अपरिहार्य्य है। किसी कार्य्य का कारण क्या है इसका अनिश्चय हमें हो सकता है पर कोई कारण है इसका निश्चय अवश्य रहता है। यदि कार्य्यकारण-भाव हमे प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त होता तो जैसे और सब प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमो (जैसे, नित्य सबेरे सूर्य्य का उदय होना) की वैसे ही इसकी भी अन्यथा भावना हो सकती। बार बार के प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमो की भावना अपरिहार्य्य नहीं, कार्य्यकारण का भाव अपरिहार्य है। अतः वह प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं है।

(४) भौतिक विज्ञान के जो नियम प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त हुए हैं उन सबको यदि निकाल दे तो कोई क्रिया नहीं रह जायगी, क्रिया की संभावना (अर्थात् कार्य्यकारणभाव) मात्र रह जायगी दिक् काल द्वारा व्यवस्थित होने पर जिसकी प्रतीति

भूत के रूप मे होती है। भूत की यह अक्रिय और सक्रिय भावना अपरिहार्य्य है, अतः चित्तप्रदत्त है।

(५) जब कि अलग अलग संस्कारो द्वारा दिक् काल का सूत्र नहीं प्राप्त होता तब कार्य्य और कारण के बीच का संबंधसूत्र अलग अलग प्रत्यक्षानुभवो से कैसे प्राप्त हो सकता है? अतः व्यापार के रूप मे शक्ति की जो अभिव्यक्तियाँ होती है उन्हे मन ही कार्य्यकारणभाव की व्यवस्था प्रदान करता है।

(६) कार्य्यकारण परपरा अनादि और अनंत है क्योकि जिस अवस्था को हम आदि मानेंगे उसका परिणाम होने के लिये कोई पूर्व परिणाम मानना पड़ेगा और अनवस्था आ जायगी। अनादि और अनत का भाव कभी किसी प्रत्यक्षा-नुभव द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। वह चित् का ही स्वरूप है।

अत.करण अपनी इन्हीं तीन व्यवस्थाओ (दिक्, काल और कार्य्यकारणभाव) द्वारा बाह्य जगत् का चित्र खींचता है। पहले तो वह संवेदनो को कालबद्ध कर पूर्वापर क्रम की भावना करता है। फिर कार्य्यकारणभाव द्वारा बाहर उसके कारण का आरोप करता है। अंत मे इस कारण को दिग्बद्ध कर भौतिक स्थूल पदार्थ के रूप मे उसकी भावना करता है। सारांश यह कि यह जगत् जो हम देखते हैं वह हमारे चित्त का ही खड़ा किया हुआ स्वरूप है, अर्थात् तत्त्व दृष्टि से मिथ्या है। यही तर्क विलायती वेदांत का आधार हुआ। कान्ट के इस निरूपण मे चित् से भिन्न उस पर संस्काररूप प्रभाव डालनेवाली अज्ञेय बाह्य सत्ता का स्वीकार

है। अतः वाह्यार्थवाद का कुछ लेश उसमें बना हुआ है। इस अज्ञेय वाह्य सत्ता की भावना उसने शक्तिरूप मे की है। एक स्थान पर उसने कहा है कि भौतिक पदार्थ और कुछ नहीं "शक्तिपूरित दिक्खंड" मात्र है।

कांट मे जो कुछ वाह्यार्थवाद का लेश था उसे फिक्ट ने दूर कर दिया। उसने सूचित किया कि चित् से भिन्न उस पर प्रभाव डालनेवाली कोई वस्तु नहीं है, आत्मा पूर्ण और निर-पेक्ष है। वह आप से आप उन स्वरूपो का उदय करती है जिसकी समष्टि को जगत् कहते है, किसी वाहरी वस्तु (भूत, शक्ति, अज्ञेय सत्ता या ईश्वर आदि) के प्रभाव या प्रेरणा से नहीं। जगत् पूर्णतया उसी की रचना है। आत्मा पहले अपना अवस्थान करती है, फिर अपने से भिन्न अनात्मा का और पीछे इस अनात्मा का अपने मे अवस्थान करती है। इसी पद्धति से वह जगत् की प्रतीति करती है। अत जो कुछ सत्ता है वह चैतन्य में ही, चैतन्य के वाहर नहीं*। मोहवश आत्मा को इस स्वावस्थान क्रिया का विस्मरण हो जाता है और उसे इस विवर्त्त द्वारा अनात्मा की भी स्वतंत्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार आत्मा के अवस्थानभेद मान कर फिक्ट ने विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय मे परमार्थ-भेद नहीं रखा। जिसे कांट ने अज्ञेय वस्तुसत्ता कहा था उसको भी फिक्ट ने विषय रूप में आत्मा का स्वावस्थान ही कह कर ज्ञेय वताया; क्यों कि जब वह आत्मा की ही स्वप्र-

---

* नहि आत्मनोन्यत् अनात्मभूत तत्। —तैत्तिरीय भाष्य।

मिति ठहरी तब उसके लिये अज्ञेय कैसे हो सकती है ! इस प्रकार फिक्ट के दर्शन मे आत्मसत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया ।

अद्वैत आत्मवाद या भाववाद मे बड़ी भारी अड़चन यह थी कि यदि ससार मे जो नाना नाना पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे चित् के भाव ही है तो किसी एक वस्तु की समान प्रतीति सब आत्माओं मे कैसे होती है, सब लोग एक सूर्य की भावना कैसे करते है । कांट की तरह वाह्यसत्ता का कुछ लेश रखने पर तो इसका समाधान यह मान कर हो सकता है कि एक वस्तुसत्ता भिन्न भिन्न आत्माओ मे एक ही प्रकार की अलग अलग प्रतीति उत्पन्न करती है । पर उस वाह्य वस्तु को भी चित् का स्वरूप मान लेने पर केवल दो रास्ते रह जाते हैं । या तो यह कहे कि जितनी आत्माएँ है उतने ही सूर्य्य (या सूर्य्य की प्रतीति) है अथवा यह कहे कि आत्मा एक ही है, अनेक नहीं। इग्लैंड के भाववादी दार्शनिक बर्कले ने पहला रास्ता पकड़ा था । पर फिक्ट ने भिन्न भिन्न आत्माओं का प्रत्याख्यान कर के भारतीय वेदांतियो के समान एक ही आत्मा माना । यूरोपीय दर्शन मे इस प्रकार एक ही पूर्ण और व्यापक चैतन्य की प्रतिष्ठा हुई ।

फिक्ट के पीछे शेलिंग ने प्रतिपादित किया कि एकांत चैतन्य सत्ता ही ब्रह्म है । जगत् चैतन्य वा ब्रह्म का ही भाव विधान है । ब्रह्मसत्ता शाश्वत सर्वव्यापिनी बुद्धिस्वरूपा है । यह संपूर्ण जगत् उसी बुद्धि का निरूपण है जिसकी पहले जड़जगत् के रूप मे और फिर-होते होते चेतन मनुष्य के रूप में अभि-

व्यक्ति होती है। विषयी निरंतर विषय रूप होता रहता है और ऐसी सृष्टि करता है जिसमें विषय और विषयी का एक मे पर्यवसान होता है। द्वैत मे अद्वैत, भेद मे अभेद का यह क्रम ही आकर्षण और अपसारण का मूल है और इसकी उद्धरणी जगत् मे बराबर होती रहती है। शेलिंग का कहना है कि विषयी जो विषय हो जाता है वह 'भेद मे अभेद' भाव हो कर फिर पलट कर अपने मे मिलने के लिये ही। जगत् और ज्ञान दोनो का क्रम बुद्धिक्रम है। विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का परम चैतन्य या पूर्णबुद्धि मे जा कर अभेद हो जाता है। अभेदरूप इस ऐकांतिक पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध क्यो कर हो सकता है ? शेलिंग का कथन है कि प्रज्ञा से।

शेलिंग के इसी 'भेद में अभेद' के ऊपर हेगल ने अपना अद्भुत चमत्कारपूर्ण भवन खड़ा किया जिससे बाह्यार्थवादी इतना घबराते हैं। उसने शेलिंग के इस कथन को अयुक्त बताया कि पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध प्रज्ञा द्वारा हो सकता है। उसने कहा कि संवेदन या इंद्रियज ज्ञान से ऊपर जो बोध होगा वह अनुमान या तर्कपद्धति द्वारा ही होगा। इसके लिये उसने एक नया आंतर तर्क खड़ा किया जिसका आधार यह है कि दो जुदी वस्तुएँ यदि समान हो तो गुण की एकता से एक ही हो सकती हैं। इसी तर्कपद्धति द्वारा उसने दिखाया कि किस प्रकार अपरिच्छिन्न सत्ता परिच्छिन्न हो कर भी अपरिच्छिन्न बनी रहती है, किस प्रकार चित् का भाव जगत् हो जाता है और फिर आत्मा हो कर अपने में लौट आता है, सत किस प्रकार असत् हो जाता है और फिर अपने में लौट

आता है अर्थात् किस प्रकार एक परम चैतन्य विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय के भेद की ओर प्रवृत्त होता है और फिर भी अभेद रूप रहता है।' इस प्रकार हेगल ने सत् और असत् दोनो का अंतर्भाव एक परमभाव में किया। हेगल के हाथ मे पड़ कर जर्मनी का भाववाद चरम सीमा को पहुँच गया।

हेगल के पीछे जर्मनी मे शोपेनहावर, हार्टमान, लोज, फेक्नर, पोलसन आदि कई भाववादी दार्शनिक हुए है। इनमे से शोपेनहावर ने बौद्ध आदि पूरबी दर्शनो और उपनिषदो का भी परिशीलन किया था। शोपेनहावर भी कांट का यह निरूपण स्वीकार कर के चला है कि बाह्य (नामरूपात्मक, दृश्य) जगत् चित् का भाव या प्रत्यय मात्र है, पर जगत की जो वस्तुसत्ता है वह कर्मसंकल्पवृत्ति या इच्छा स्वरूप है। यह कर्मप्रवृत्ति या कृतिशक्ति उद्देश्यज्ञानपूर्वक चेतन नही है, जड़ है। बुद्धि और चेतना क्या इसमे संवेदन तक नही, यह सर्वथा जड़ प्रवृत्ति है। इस प्रकार उसने फिक्ट, शेलिंग और हेगल के अनंत पूर्ण चैतन्य अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतनसत्ता का प्रतिषेध किया और कहा कि अंध जड़ प्रवृत्ति या इच्छा ही परिणाम रूप से हम लोगो मे चैतन्य की उत्पत्ति करती है। यह दु:खमय संसार इसी रजोगुणमयी प्रवृत्ति या शक्ति का कार्य्य है। शोपेनहावर के दर्शन मे दु:खवाद भरा हुआ है। कामना की निवृत्ति से ही दु:ख की निवृत्ति हो सकती है। शोपेनहावर के अनुयायियों में ही ड्यूसन हुए हैं जिन्हो ने वेदांत आदि भारतीय दर्शनों की भी आलोचना की है।

शोपेनहावर ने सब से जड़ और दुःखमयी प्रवृत्ति को ही जगत् के मूल मे रखा है। उसका यह दुःखवाद जर्मनी में निट्शे ने ग्रहण किया और अपनी चमत्कारपूर्ण अनोखी उक्तियो द्वारा अपने देश मे एक इंद्रजाल सा फैला दिया। वह शोपेनहावर के दर्शन से जड़ प्रवृत्ति या संकल्पशक्ति को ले कर विकाशवाद की ओर ले गया और कहने लगा कि जीवन की यही कामना विकाश के इस नियम मे देखी जाती है कि 'जो जीव समर्थ होते है वे ही रह जाते हैं और सब नष्ट हो जाते हैं'। प्रकृति द्वारा जीवित रहने का अधिकार बलवानो को ही प्राप्त है। वे दुर्वलो को संसार से हटा कर अपने लिये—अपने ज्ञान, बल, वैभव आदि के पूर्ण विस्तार के लिये—जगह करे और इस प्रकार 'ग्रहण पद्धति' द्वारा एक मनुष्योपरि योनि का विकाश करे। इस मनुष्योपरि योनि के विकाश के उन्माद मे जर्मनी ने हाल मे जो करतब किए उन्हे संसार देख चुका है।

यद्यपि भारतीय वेदांत की पद्धति योरप की ज्ञानपरीक्षा-वाली पद्धति से भिन्न है पर अंत मे दोनो दर्शन किस प्रकार एक ही सिद्धांत पर पहुँचे है यह बात ध्यान देने योग्य है। वेदांत यह मान कर चला है कि क्रिया परिणाभिनी है, पर चैतन्य अपरिणामी है। एक क्रिया दूसरी क्रिया के रूप मे परिणत होती है पर उन क्रियाओ का ज्ञान सदा वही रहता है। बुद्ध्यादि अंतःकरण की सब वृत्तियाँ जड़ क्रिया के अंतर्गत की गई है, केवल उनका ज्ञान अविकृत रूप से स्थित कहा गया है। खंडज्ञान या विज्ञान का कारण बुद्ध्यादि क्रिया की विच्युति

या विकार है। क्रियानुगत ज्ञाता ज्ञेय रूप मे केवल क्रियाओ का ज्ञान करता है, अपने स्वरूप का नही जो अखंड, निर्विशेष और अपरिणामी है। इससे सिद्ध हुआ कि परिणामबद्ध क्रिया या क्रियाबीज शक्ति स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, उसकी अक्षर सत्ता चैतन्य की सत्ता मे ही है। शक्ति का जो स्फुरण है उसका अधिष्ठान चैतन्य है। अतः चैतन्य ही एकमात्र शुद्ध सत्ता है। इस स्फुरण व्यापार मे ब्रह्म या चैतन्य का ही आभास मिलता है। "सर्व विशेषप्रत्यस्तामित स्वरूपत्वात् ब्रह्मणो बाह्यसत्तासामान्यविषयेण 'सत्य' शब्देन लक्ष्यते"—(तैत्तिरीय भाष्य)। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का केवल आभास मिल सकता है। उसका बोध केवल लक्षणा द्वारा हो सकता है साक्षात् संबंध द्वारा नही। जब कि सब प्राकृतिक व्यापार चैतन्य के ही लक्षणाभास है और हमे केवल इन्हीं लक्षणाभासो का ही ज्ञान हो सकता है तब इनके अनुसंधान को वेदांती अनावश्यक नही कह सकते।

इस संक्षिप्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म अनंत ज्ञानस्वरूप और अनंत शक्तिस्वरूप दोनो है। इस शक्ति को ब्रह्म का संकल्प ही समझना चाहिये जो अव्यक्तरूप में चैतन्य में अविष्ठित रहता है। यह एक प्रकार से ज्ञान का ही एक अंग या पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति सर्गोन्मुख गति या क्रिया के रूप मे होती है। इसी अर्थ में ब्रह्म या चैतन्य को "भूतयोनि" (कारण ब्रह्म) कहते है। ज्ञाता ज्ञेय रूप से अपना अवस्थान कर क्रियारूप मे अपनी संकल्पशक्ति को व्यक्त करता है।

बाह्यार्थवाद ।

बाह्यार्थवादी सर्वसाधारण की धारणा का समर्थन करते हुए भूत और आत्मा दो अलग सत्ताएँ मानते हैं। उन्हे दोनो ओर के अद्वैतवादियों के खंडन में प्रवृत्त होना पड़ता है। अद्वैत आत्मवाद की प्रचंड युक्तियो के निराकरण मे भी वे प्रवृत्त होते हैं और भूताद्वैतियों की त्रुटियों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। जर्मनी में ही ड्यूरिंग (Duhring) आदि कई बाह्यार्थवादियो ने कांट के निरूपण के विरुद्ध प्रयास किया है। बाह्यार्थवादी भी दो प्रकार के हैं। कुछ तो भौतिक जगत् को प्रत्यक्ष नही मानते, अनुमान मानते हैं। वे इस युक्ति को मानते हैं कि मन का जो ज्ञान होता है वह अपने ही स्वरूपो या संस्कारो का, पर इन संस्कारो द्वारा इस बात का पूरा अनुमान होता है कि भौतिक जगत् है। शुद्ध बाह्यार्थवादी कहते हैं कि हमे भौतिक जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, मानसिक संस्कार मध्यस्थ नहीं। इंग्लैंड मे रीड, स्टिवर्ट, और हेमिल्टन शुद्ध बाह्यार्थवाद के अनुयायी हो गए है। मार्टिना, माइवर्ट और मेकाश आधुनिक अनुयायिओं मे हैं। इंग्लैंड की स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी मत की ओर अधिक है जिसमे न्याय और वैशेषिक के समान ईश्वर, आत्मा और भूत के लिये उसी प्रकार अलग अलग जगह है जिस प्रकार सर्व साधारण के मन में।

इस मत क समर्थक भाववादियो की इस मूल प्रतिज्ञा को असिद्ध कहते हैं कि मन को जो संवेदन या ज्ञान होता है वह अपने ही संवेदन का न कि वस्तु का। वे कहते हैं कि जिसका ज्ञान होता है वह भौतिक पदार्थ से उत्पन्न भौतिक प्रभाव है,

चित् का ही स्वरूप नहीं। यदि जगत् के व्यापारो को हम चित्त के भाव या कल्पना मान लें तो फिर नाना विज्ञानों के जो अन्वेषण हैं वे व्यर्थ हैं। भौतिक व्यापार अपने नियमो के अनुसार तब से बराबर होते आ रहे हैं जब उनकी प्रतीति करनेवाले मनुष्य के चित्त का कहीं पता भी नहीं था। यदि भूत की सत्ता स्वतंत्र न होती तो एक ही बात का पता दो अलग अलग अन्वेषकों को कैसे लगता। नेपचून नामक ग्रह का पता आडम्स और लेवरियर नामक ज्योतिपियो ने अपनी अपनी स्वतंत्र गणना के अनुसार एक ही समय मे पाया। इस प्रकार बाह्यार्थवादी अनेक युक्तियो से योरोपीय भाववादियो (अद्वैत आत्मवादियों) के निरूपण के प्रत्याख्यान मे प्रवृत्त होते हैं। पर सच पूछिए तो वैज्ञानिको के अनुसंधान का द्वार भाववादी बंद नहीं करते है। सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का जो कुछ उन्होने प्रतिपादन किया है उसके साथ बाह्यार्थ क्रमविधान का समन्वय भी उन्होने किया है। कांट ने वस्तुसत्ता को शक्तिस्वरूपा कहा था, शोपेनहावर ने उसी शक्ति को संकल्प कहा। फिक्ट ने उस शक्ति को 'विषयी का विषयरूप से स्वावस्थान' कह कर उसका अधिष्ठान चैतन्य मे ही कर दिया था। पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार भौतिक विज्ञान भूत या द्रव्य के मूलरूप का पता लगाते लगाते अंत में शक्ति तक पहुँच रहा है। कुछ वैज्ञानिक अब कहने लगे हैं कि द्रव्य या भूत का सब से सूक्ष्म रूप* शक्ति ही है।

---

* अक्षरमव्याकृत नामरूपबीजशक्तिरूप भूतसूक्ष्मम्।—शंकरभाष्य।

अत. विज्ञान के नाना अनुसंधानो को भाववादी यही समझेगे कि संकल्प या कृतिशक्ति के स्वरूप का निरूपण हो रहा है। जब कि इस संकल्प या क्रियाबीज की सत्ता भी चैतन्य सत्ता से स्वतंत्र नहीं, जब कि यह ज्ञान का ही एक विशेष (ज्ञेय) रूप मे अवस्थान है, जब कि इसके नाना विशेषो या क्रियाओं की तह में अधिष्टान रूप से निर्विशेष चैतन्य व्याप्त है तब इस ज्ञेय के द्वारा ज्ञान, चैतन्य या ब्रह्म का ही आभास अध्यात्मवादी क्यों न मानेगे ?

प्रकृति के नाना व्यापारो के अनुसंधान द्वारा ही वैज्ञानिको को "भेद मे अभेद" इस गूढ़ तत्त्व की उपलब्धि हुई है जो सत्ता संबंधी ज्ञान का मूल है। भूतों की विशेष विशेष क्रियाओ के अभ्यास द्वारा ही क्रिया के एक निर्विशेष रूप अक्षर शक्ति तक विज्ञान पहुँचा है, नाना क्रियाएँ जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है। विज्ञान के किसी क्षेत्र मे जाइए वहाँ एक सामान्य अनेक की तह में ओतप्रोत मिलेगा। यही सामान्य सत्ता के स्वरूप का आभास है।

नाना भेदो के बीच जो अभेद मिलता जाय उसे सत्ता के स्वरूप के पास तक पहुँचता हुआ समझना चाहिए। शुद्ध विज्ञान अपने सूक्ष्म अन्वीक्षणो द्वारा सर्वभूत की सामान्य सत्ता, शक्ति, तक पहुँच रहा है। ईथर का एक अड़गा रह गया है। ईथर भी शायद एक दिन शक्तिरूप ही प्रमाणित हो जाय (अव्यक्तमव्याकृताकाशादिशब्द वाच्यम्—कठ भाष्य)। पहले कहा जा चुका है कि विज्ञान अपनी पद्धति से चैतन्य को इस भूतशक्ति के अंतर्गत करने में समर्थ नहीं हुआ है। अतः

चैतन्य और शक्ति का ही द्वैत अब रह गया है। सांख्य ने जहाँ छोड़ा था वहीं पर विज्ञान ने भी ला कर छोड़ दिया है। सांख्य भी पुरुष-प्रकृति का सदा सलामत रहनेवाला जोड़ा देख कर लौटा था।

अब इस द्वैत को ले कर दोनों प्रकार के अद्वैतवादों का क्या रूप होगा यह देखना चाहिए। अब या तो आधिभौतिक अद्वैत के अनुसार चैतन्य को शक्ति के अंतर्भूत करें या अद्वैत आत्मवाद के अनुसार शक्ति को चैतन्य के अंतर्भूत करें—या तो शक्ति को चैतन्य का अधिष्ठान कहें, अथवा चैतन्य को शक्ति का। हैकल ने परमतत्व के भूत और शक्ति जो दो पक्ष कहे थे उनमें से भूत तो प्राय: शक्ति के ही अंतर्भूत हो गया। अतः उसका परमतत्व भी शक्तिरूप ही रह गया। उसने चैतन्य को इस शक्ति का ही एक रूप या क्षणिक परिणाम कहा है। योरप के भाववादी और भारत के वेदांती चैतन्य को ही शक्ति का अधिष्ठान कहेंगे जैसा कि वे बराबर कहते आए हैं। आधिभौतिकों या लोकायतिकों की इस युक्ति का उन पर कोई प्रभाव नहीं कि शरीर या मस्तिष्क के विकृत या नष्ट होने से चेतना भी विकृत या नष्ट होती है क्योंकि उनका पक्ष तो यह है कि मस्तिष्क (अंतःकरण या बुद्ध्यादि जड़ क्रिया) के विकृत या नष्ट होने से केवल वह क्रियाविशेष नष्ट हो जाती है जिसके द्वारा चैतन्य के लक्षण का आभास मिलता है।

जब हैकल आदि कुछ वैज्ञानिक अपने क्षेत्रों से निकल कर ईश्वर, परलोक आदि के खंडन द्वारा ईसाई धर्म पर टूटे

तब बहुतो ने अपने मज़हब की पौराणिक और स्थूल बातो को किनारे कर हेगल आदि के पूर्णचिद्वाद (Philosophy of the Absolute) या ब्रह्मवाद की ही शरण ली जिसकी आधिभौतिको ने हँसी उड़ाई क्योकि भाववाद मे उनके स्थूल ईश्वर, फरिश्तो, दोज़ख की आग, पितापुत्र आदि के लिये कहीं ठिकाना नहीं था। कैथलिक संप्रदाय के ईसाइयो ने शुद्ध बाह्यार्थवाद का अवलंबन किया। अधिकांश वैज्ञानिक अपने विषय के बाहर न जा कर संशयवादी रहे, और अब भी हैं। वे चैतन्य और उसकी सत्ता असत्ता के विषय मे कुछ कहना नही चाहते। डारविन, हक्सले, आदि विकाशवाद के प्रतिष्ठाता संशयवादी थे, अनीश्वरवादी नही। हर्बर्ट स्पेंसर को भी एक प्रकार का संशयवादी ही कहना चाहिए। पर लार्ड केलविन, सर आलिवर लाज ऐसे कुछ परमप्रसिद्ध वैज्ञानिको ने लड़ाई में धर्माचार्य्यों का पूरा साथ दिया है। सर आलिवर लाज इंग्लैंड के प्रधान वैज्ञानिको मे से हैं। वे ईश्वर, परलोक, अमरत्व आदि के मंडन मे बराबर दत्तचित रहते हैं। सन् १९१३ मे बृटिश असोसिएशन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सर आलिवर लाज ने 'अखंडत्व' पर जो व्याख्यान दिया था उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"परलोक आदि का पुराना झगड़ा इधर मुलतवी है। जिस गढ़ मे परलोकवादी ने शरण ली है वह आक्रमण के लिये लोगो को आकर्षित नहीं करता। जिस कोने को दबा कर वह बैठा है उस पर उसका पूरा हक है। अब जो झगडा चल रहा है वह वैज्ञानिक दलो के बीच है जिसमे दार्शनिको का

भी योग है। परलोकवादी तो अब एक कोने मे बैठा दूर से आसरा लगाए देख रहा है कि इस झगड़े से कभी न कभी उसके काम की बात निकल आवेगी। वह बैठा बैठा सोचता है कि बहुत सी बाते जिन्हे लोगो ने उतावली करके अधूरे प्रमाण पर ही झूठ ठहराया था वे किसी न किसी रूप मे आगे चल कर ठीक प्रमाणित होगी। इस प्रकार धर्मोपदेशको (पादरियो) का पुराना द्वेष तो इधर शांत है।

भौतिक विद्या मे शक्ति पर विवाद चल रहा है। रसायन में अणुओ की बनावट का झगड़ा है। प्राणिविज्ञान मे वंशपरंपरा के नियमो की छानबीन है। शिक्षापद्धति मे बच्चों को अधिक स्वतंत्रता देने के लाभ बताए जा रहे है। राजनीति, अर्थनीति, और समाजनीति मे तो दुनियाँ की कौन ऐसी बात है जिस पर वाद न हो—केवल 'धन धरती' पर ही नहीं, अदन के पुराने बाग से ले कर स्त्रीपुरुष के परस्पर संबंध तक पर विवाद छिड़ा हुआ है। इसी प्रकार गणित और विज्ञान की शाखाओं मे आज कल का संशयवाद अखंडत्व के संबंध मे है।

"इन सब खंडवादो से बढ़ कर गूढ़ और तत्वमूलक सब प्रकार के विज्ञानो के आधारो की गहरी परीक्षा है जो आजकल हो रही है। एक प्रकार का दार्शनिक संशयवाद भी बढ़ती पर है जिससे बुद्धि के शुद्ध निरूपण क्रम पर भी अविश्वास किया जा रहा है और विज्ञान की पहुँच भी परिमित बताई जा रही है।

"वैज्ञानिक भी पुराने सिद्धांतो के खंडन मे लगे हैं। एक

पूरा अन्यूटनिक सिद्धांत ही निकाला गया है जिसके आधार हाल में जाने हुए वे परिवर्त्तन हैं जो प्रकाश के तुल्य वेग से गमन करते हुए पदार्थों में पाए गए हैं। वास्तव में यह पाया गया है कि परिमाण और आकृति वेग की क्रियाएँ या गुण हैं। जैसे जैसे वेग बढ़ता है वैसे ही वैसे परिमाण बढ़ता है और आकृति में फेरफार होता है, पर साधारण अवस्था में हद से ज्यादा सूक्ष्म रूप में। भौतिक विज्ञान के अधिकांश विभागों में सुगमता के स्थान में जटिलता बढ़ती जाती है। आज कल भौतिक विज्ञान में जो मुख्य विवाद चल रहा है उसका झुकाव खंडत्व और अखंडत्व के विषय में है।

"ऊपर से देखने में सृष्टि के बीच पहले हम खंडत्व पाते हैं अर्थात् हम ऐसे पदार्थ देखते हैं जिन्हें अलग अलग गिन सकते हैं। फिर हम वायु तथा और और अतरवर्त्तियों का अनुभव करते हैं और अखंडत्व या प्रवाहित द्रव्य का समर्थन करते हैं। इसके अनंतर हम अणुओं का पता लगाते हैं और फिर खंडत्व हमारे सामने आता है। तब हम ईथर का पता लगाते हैं और फिर अखंडत्व पर विश्वास करते हैं। पर इसका अंत यहीं नहीं होने का। अंतिम परिणाम क्या निकलेगा, या कुछ निकलेगा भी, यह बताना कठिन है। आजकल की प्रवृत्ति तो प्रत्येक पदार्थ को सखंड या अणुमय बताने की है। विद्युत् या विद्युत्प्रवाह भी—सुनकर आश्चर्य्य होगा—अणुमय प्रमाणित हुआ है और उसके अणु का नाम विद्युदणु रखा गया है। चुंबकशक्ति तक के अणुमय होने का संदेह किया गया है और उसकी व्यष्टि या अणु का नाम चुंबकाणु रख दिया गया है।

प्राणिविज्ञान मे घटकरूप में शरीराणुवाद की प्रतिष्ठा थी ही, अब वंशपरंपरा के नियमों का अध्ययन कर मेंडल आदि ने बताया है कि वृद्धिकारक घटको (शुक्रकीटाणु, गर्भांड) मे भी संख्या और खंडत्व प्रत्यक्ष है और संतति-भेद भी गिने और पहले से बताए जा सकते है। जहाँ डार-विन के अनुसार अखंड परंपरागत भेद द्वारा ही ढाँचे में फेरफार माना जाता था वहाँ उसके स्थान पर या कम से कम उसके साथ साथ अब आकस्मिक या आगंतुक रूपांतर द्वारा विशिष्ट, असबद्ध और परंपराखंडित परिवर्त्तन माना जाने लगा है। इतने पर भी यह निश्चय है कि अखंडत्व ही विकाश सिद्धान्त का मूल है। गतिशक्ति तक अण्वात्मक बताई जाने लगी है। प्रो० प्लांक का शक्त्यणु (Quantum) वाद अत्यत चित्ताकर्षक – कुछ लोगो की समझ मे अत्यंत प्रबल भी – है। ज्योति.प्रवाह के भी सखंड और अणुमय सिद्ध होने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। ज्योति.प्रवाह के अणुमय होने की चर्चा अब उतनी धीमी नहीं है जितनी की कुछ पहले पड़ गई थी। इस बात मे यथार्थता चाहे जितनी हो पर ज्योति:प्रवाह संबंधी जो विवाद है वह है बड़े महत्व का, क्योकि वह ईथर और द्रव्य के बीच की सब से अधिक ज्ञात और परीक्षित शृंखला है। ज्योति:प्रवाह यद्यपि वेगप्रेरित विद्युदणु से ही उत्तेजित होता है पर आगे चल कर वह आकाशतत्व ईथर मे ही विचरण करता है और एक विशिष्ट वस्तु की तरह सम तथा नियमित गति से गमन करता है। इससे ज्योति:प्रवाह के द्वारा हम बहुतसी बाते जान सकते हैं।

"पर लक्ष्यो को हटाने में धैर्य्य से काम लेना चाहिए। इन लक्ष्यो मे सब से प्रधान अखंडत्व है। मै शून्य आकाश मे किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म भौतिक शक्ति की क्रिया का अनुमान नही कर सकता। उसके लिये एक अखंड मध्यस्थ अवश्य चाहिए। ईथर की किसी प्रकार की परीक्षा अत्यंत दु:साध्य है। उसके विषय मे हम केवल इतना ही जानते हैं कि किस वेग से उसके द्वारा शक्तिप्रवाह गमन करते है। वह हमारी पकड़ मे नही आता। यदि हम उसके बीच से कोई द्रव्य तेजी से ले जायँ तो भी कोई पदार्थघटित सबंध नही मिलता। प्रकाश को लेकर परीक्षा करते हैं तो भी सफलता नही होती। जब तक कि प्रकाश की गति हमारे सापेक्ष है तभी तक हम उसका अनुभव कर सकते हैं। पर जहाँ एक द्रव्य की गति दूसरे के सापेक्ष नही है वहाँ उसकी गति का कुछ भी पता नही चलता। जैसे यदि दो मनुष्य साथ साथ समान गति से गमन करते है तो एक को दूसरे की गति नहीं मालूम हो सकती। इसीसे कुछ लोगो का यह विचार हो रहा है कि किसी गति को ईथर के सापेक्ष बताना बात ही बात है। इस का पता कभी लग ही नही सकता।

"हम लोगो का यह युग अत्यंत सूक्ष्म कल्पनाओ का है। बीसवी शताब्दी का बड़ा भारी आविष्कार द्रव्य का विद्युत् सिद्धांत (अर्थात् द्रव्य विद्युत् का ही एक रूप है) है। परिमाण और आकार जो वेग की क्रियाएँ निश्चित हुए हैं वह इसी सिद्धांत के बल से। इसकी सहायता से हम उन परीक्षाओ को करते हैं जिससे ईथर और द्रव्य के संबंध का कुछ

कुछ आभास मिलता है। इससे किसी दिन यह भी संभव है कि हम विद्युदणुओं की आकृति आदि के परिवर्त्तनो का भी पता लगा लें क्योंकि यद्यपि वे अत्यंत सूक्ष्म हैं पर उनकी गति प्रकाश की गति के लगभग है। फिर कौन जाने इसी प्रकार ईथर के गुणो तक हमारी पहुँच हो जाय और अखंडत्व को हम अच्छी तरह समझ सकें।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि अखंडत्व का निर्धारण नाना विशेषो के भीतर एक निर्विशेष का निर्धारण है जिसके द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक स्थिति की संक्षिप्त समीक्षा कर लॉज ने अंत मे प्राणशक्ति, आत्मा, अमरत्व, परलोक आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं—

"जो बात निश्चित जान पड़ती है वह यह है कि भूत के बिना प्राणशक्ति की कोई भौतिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीसे कुछ लोगो का यह कहना या इस कहने को पसंद करना स्वाभाविक ही है कि 'हम भूत मे प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की संभावना और सामर्थ्य देखते हैं'। ठीक है, पर प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की नहीं, प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की भौतिक अभिव्यक्ति की। क्योंकि प्राणशक्ति हमे भूत द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त और किस प्रकार व्यक्त हो सकती है? यह भी कहा जाता है कि 'प्राणी मे हम रसायन और भूतविज्ञान के नियमों के अतिरिक्त और कुछ पाते ही नहीं'। बहुत ठीक, यह भी स्वाभाविक ही है क्योंकि लोग प्राणशक्ति के भौतिक या रासायनिक रूप या व्यक्तता का तो

अध्ययन ही कर रहे हैं, स्वयं प्राणशक्ति का अर्थात् मन और चेतना का अध्ययन तो वे करते नहीं हैं, उनको तो वे अपनी छानबीन के बाहर रखते हैं। भूत ही हमारी इंद्रियों को ग्राह्य है। भूतवाद भौतिक जगत के उपयुक्त है, पर दार्शनिक सिद्धांत के रूप मे नही, बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारणपरंपरा के अनुसंधान के रूप मे। इसके परे जो बाते है वे दूसरे क्षेत्र की है और दूसरे उपायो से मानी जाती है। आध्यात्मिक बातो को रसायन और भूत-विज्ञान के शब्दो मे बताना असंभव है, इसीसे उनका अस्तित्व ही अस्वीकार किया जाता है, वे केवल भ्रान्तिलक्षण मानी जाती है। पर ऐसी अनधिकार मीमांसा अनुचित है।

प्राणशक्ति का पता प्रयोगशालाओ मे नहीं लगता। केवल उसकी रासायनिक और भौतिक अभिव्यक्ति ही देखी जाती है, पर यह मानना पड़ेगा कि वह एक विशेषरूप से भूतो का परिचालन करती है। उसे हम तटस्थ (Catalytic जो स्वय विकारप्राप्त न हो कर भी दो रासायनिक द्रव्यो मे विकार उत्पन्न करता है) परिचालक कह सकते है। प्राणशक्ति के व्यापारो को समझने के लिए हमे सूक्ष्म जीवो की ओर न जाना चाहिए, स्वयं अपने मे उसका अधिक व्यक्त आभास समझ अपने ही अनुभवो की ओर ध्यान दना चाहिए।"

जगत् मे चारों ओर क्रमव्यवस्था देखते हुए भी लोग जो नित्य चैतन्य का अधिष्ठान रूप से अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, लाज के अनुसार यह उनकी दृष्टि की संकीर्णता है। उन्होंने कहा है—

"प्राकृतिक पदार्थों के भीतर एक गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। कट्टर वैज्ञानिक इस विषय मे जो बाते बतलाते हैं वे उनकी विद्या की पहुँच के अनुसार ठीक हैं, पर अंशतः। जब हम मोर की पूँछ की चंद्रिकाओ मे रंगो का चित्रविचित्र मेल देखते हैं कि किस प्रकार वे अपनी अपनी जगह पर एक निश्चित नमूने और नकशे को भरते हुए बैठे हैं तब यह कहना अत्यंत कठिन हो जाता है कि ऐसी क्रमव्यवस्था के साथ मेल केवल रासायनिक नियमो द्वारा होता है। फूल गर्भाधान के लिए कीड़ो को आकर्षित करते है और फल बीजो को फैलाने के लिए जानवरो को। पर इस संबंध में इतनी ही व्याख्या काफी नही है। फूलो मे इतनी सुन्दरता केवल कीड़ो को आकर्षित करने के लिए ही नही है। हमे जीवन के लिए जो इतनी हाय हाय रहती है उसे समझना चाहिए। इस प्रयत्न का कोई रहस्य होगा और विकाश का कोई उद्देश्य होगा। 'प्राकृतिक ग्रहण सिद्धांत' जहाँ तक पहुँचता है हेतुनिरूपण करता है। पर यदि इतने सौन्दर्य्य की आवश्यकता कीड़ो के लिए है तो हम वन, पर्वत, मेघमाला आदि के सौन्दर्य के लिए क्या कहेगे? उनके सौन्दर्य से कौन सा काम निकलता है, कौन सा लौकिक अर्थ-साधन होता है? विज्ञान सौन्दर्य्य का विवेचन नहीं करता। न करे, पर उसका अस्तित्व अवश्य है। मै केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि हमारे अनुसंधान मे ब्रह्मांड की सारी बाते नहीं आ जातीं। इससे यदि हम निषेध करने चलते है और कहते हैं कि भूतविज्ञान और रसायन के ही अंतर्गत हम सारी बातो को ला सकते हैं तो हम केवल

संकीर्ण पांडित्य का दंभ दिखाते हैं और अपने मनुष्यजन्म के अधिकार की पूर्णता और समृद्धि खोते हैं।

"विकाश परम सत्य है, बड़े महत्त्व का सिद्धांत है। सामाजिक उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न इस लिए उचित हैं कि हम समष्टि के एक अंग हैं, अंग भी ऐसे जो चेतन हो गया है। अतः समष्टि मे उद्देश्य-विधान का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि हम उसके एक अंग हो कर अपने आप में उसका अनुभव करते है।......शरीरवियोग के उपरांत भी आत्मा बनी रहती है। यदि न्याय से पूछा जाय तो मैं केवल इतना ही नहीं कहता कि जो बाते अभी परोक्षवाद के अंतर्गत समझी जाती हैं वे वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा जाँची और निरूपित की जा सकती हैं बल्कि यहाँ तक कहता हूँ कि जहाँ तक परीक्षा हुई है उससे हमे यही निश्चय हुआ है कि स्मृति और अतःकरणवृत्तियां भूतसंबंध ही तक परिमित नहीं हैं, संस्कार रूप मे वे बराबर बनी रहती हैं। परीक्षा द्वारा मुझे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि शुद्ध भूतनिर्लिप्त चैतन्य का साक्षात् ज्ञान हमे नहीं हो सकता पर उसका आभास भौतिक जगत् मे दिखाई देता है। अत वह कुछ घुमाव फिराव के साथ हमारी वैज्ञानिक परीक्षा के अंतर्गत आ सकता है। कुछ सच्चे और विश्वस्त अन्वेषक आशापूर्वक ज्ञान के एक नए क्षेत्र का आभास दे रहे है।

यह हम कभी नही कह सकते कि इस लोक मे सत्य का प्रादुर्भाव केवल दो एक शताब्दियों से ही होने लगा। वैज्ञानिक काल के पूर्व की प्रतिभा की पहुँच भी बड़े महत्व की

थी। प्राचीन महात्माओ और कवियो का विश्व की आत्मा के विषय मे बहुत कुछ प्रवेश था। हमारी अनुसंधानप्रणाली ऐसी है जिससे किसी अखंड निर्विशेषता का पता नहीं लग सकता। यहाँ पर सापेक्षिकता का सिद्धान्त चलता है। इससे जब तक हमे व्याघात या विभेद नही मिलता तब तक हमें कोई परिज्ञान नही होता। हम लोग अपने चारो ओर की अन्तर्व्याप्त विभूति को देख सुन नही सकते; इतना ही कर सकते हैं कि कालरूपी करघे से निकल कर पूर्णता की ओर अनंत गति से गमन करते हुए वस्त्र को भूतो से परे उस परमात्मा का परिधान समझे।"

जैसा पहले कहा जा चुका है लाज उन थोड़े से वैज्ञानिको मे से हैं जो संशयवाद से निकल कर ईश्वर परलोक आदि के मंडन मे तत्पर रहते हैं। योरप और अमेरिका मे कुछ दिनो से परोक्षशक्ति के साधक भी खड़े हुए हैं जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ दिखा कर आत्मसत्ता का अस्तित्व प्रतिपादित करने का उद्योग करते हैं। ये मृत पुरुषो की आत्माओं से बात चीत करने, उनके द्वारा अलौकिक घटनाओ के होने का हाल सुनाया करते है। इनकी ओर से कई पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। पर इनमे से अधिकतर छल और प्रवंचना का आश्रय लेते हैं इससे शिक्षितों और वैज्ञानिको की इनपर आस्था नही है। बहुतेरे अंतःकरण की असामान्य वृत्तियों या अवस्थाओं (जैसे, दोहरी चेतना आदि) को अपने प्रयोग मे लाते हैं। पर इन युक्तियों से शिक्षितों का समाधान नहीं होता।

जैसा कि लाज ने कहा है परलोक, आत्मा आदि के

प्रत्याख्यान् की ओर वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति इधर कम हो गई है। 'अपने काम से काम'वाली नीति पर वे चल रहे हैं। पर हैकल के संप्रदाय के अनुयायियो और आत्मवादियो के बीच छेड़छाड़ होती रहती है। हैकल की पुस्तक के जिस अंगरेजी भाषान्तर का यह हिन्दी अनुवाद है वह जोजफ मेककैव (Joseph Mc Cabe) का किया हुआ है। इन्होंने हैकल का एक जीवनचरित और हैकल पर किए हुए आक्षेपों के उत्तर मे एक पुस्तक (Haeckel's Critics Answered) भी लिखी है। अभी हाल मे एक सभा के बीच इनसे और इंगलैंड के प्रसिद्ध कहानी लेखक ए० कनन डायल (A. Conan Doyle) से परलोक आदि विषय पर शास्त्रार्थ हुआ है जो पुस्तकाकार छपा है। ए. कनन डायल पूरे अध्यात्मवादी है।

अव तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित जगत के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा और यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाना मतो और मजहवों की विशेष विशेष स्थूल वातो को लेकर झगड़ा टंटा करने का समय अव नहीं है। सब मतो और संप्रदायो मे धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अव शिक्षित पक्ष के अंतर्गत आ सकता है। ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी-दाढ़ी वाला है कि चारहाथवाला, अरवी वोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से, इन वातो पर विवाद करनेवाले अव केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके संबंध में जो प्राचीन पौराणिक

कथाएँ और कल्पनाएँ (६ दिन मे सृष्टि की उत्पत्ति, आदम हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि) हैं वे अब ढाल तलवार का काम नहीं दे सकतीं। अब जिन्हें मैदान मे जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए है—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतो की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि, चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदो मे अभेददृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्य का अनुभव और मतमतांतर के रागद्वेष का परिहार हो सकता है।

इतिहास से प्रकट है कि आदि मे सब देशो के बीच प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियो और विभूतियो या उनके भिन्न भिन्न अधीश्वरो की भावना हुई और बहुदेवोपासना प्रचलित हुई। कुछ देशों मे 'भेद मे अभेद' की तत्त्वदृष्टि का क्रमशः विकाश हुआ और सब देवो की समष्टि के रूप मे एक ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई। जिन दो देशो मे सब से पूर्व इस प्रकार स्वाभाविक क्रम से एक ब्रह्म की भावना का विकाश हुआ वे भारत और बाबुल थे। भारतीय आर्य्यों के बीच एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना का विकाश शुद्ध तत्त्वदृष्टि से हुआ। पहले प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियो या विभूतियो की उपासना चली, फिर तत्त्वदृष्टि से उन सब का एक मे समाहार कर के ब्रह्मवाद की स्थापना हुई। संहिताकाल मे ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे—

इन्द्रं, मित्रं, वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद म १।२ ।१६४।६४)

उपनिषत्काल मे तो एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'तत्वमसि' इत्यादि वेदांत के महावाक्यों का पूर्ण रूप से प्रचार हो गया था। ठीक इसी रीति से पृथ्वी पर की अत्यत प्राचीन खाल्दी जाति के बीच एक ईश्वर की भावना का विकाश हुआ था। ईसा से २००० वर्ष पूर्व के बाबुल के एक लेख मे वहाँ के भिन्न भिन्न देवता एक ही प्रधान देवता मरदक के भिन्न भिन्न रूप कहे गए है। एक नमूना देखिए—

नरगल युद्ध का मरदक है। बेल राजसत्ता का मरदक है।
शम्श धर्म का मरदक है। अदु वर्षा का मरदक है।
नबो व्यापार का मरदक है।

जहाँ एकेश्वरवाद का पहले पहल तत्वदृष्टि द्वारा स्वाभाविक क्रम से विकाश हुआ वहाँ तो बहुदेववाद के साथ उसका पूरा समन्वय रहा और किसी प्रकार के द्वेष, कलह और उपद्रव का सूत्रपात नही हुआ, पर जहाँ उसका कलम लगाया गया वहाँ आफत खड़ी हो गई। उपदेश देने में अधिकारियो का भेद इसी लिए किया जाता है। जब तक अंतःकरणविकाश द्वारा जिस ज्ञान का जो अधिकारी नहीं हो लेता तब तक न वह उसे पूरा पूरा ग्रहण ही कर सकता है, और न अधूरा ग्रहण करके पचा ही सकता है। बाबुल के इस एकेश्वरवाद

की कुछ खबर यहूदियों को लगी। फिर क्या था, दर्शनविज्ञान-विहीन पुराने यहूदियों की एक शाखा को अपने कुलदेवता 'यहोवा' को दूसरी जातियो के देवताओ से बड़ा प्रकट करने की धुन समाई। जैसे लड़के एक दूसरे से अभिमान के साथ कहते हैं कि हमारा खिलौना तुम्हारे खिलौने से अच्छा है वैसे ही अपने देवता को लेकर वे कहने लगे। पहले यह 'यहोवा' साधारण कुलदेवता था जिसे इसराईल के वंशवाले बलि चढ़ाया करते थे। इसकी शक्ति और इसका ज्ञान बहुत परिमित था। जब मिस्रदेश के राजा ने इसराईलवंशवालो को बहुत सताया तब उन्होंने अपने कुलदेवता की दुहाई दी। यहोवा ने कहा 'अच्छा, आज रात को मै मिस्रियों का नाश करूँगा। पर एक काम करना, बलिदान करके पहचान के लिए रक्त का छापा अपने अपने दरवाज़ों पर लगा देना, जिसमें उन घरों को मैं बचा जाऊँ"। पीछे मूसा की कृपा से यही 'यहोवा', जमीन और आसमान का बनानेवाला खुदा हो गया। मूसाई मत से ही ईसाई मत निकला। यहूदियो और ईसाइयो को इस प्रकार द्वेषवश दूसरी जातियो की निंदा करने तथा उन्हे पापी और धर्मविमुख कहने का अवसर मिला। ज्ञान की असंस्कृत दशा में मनुष्य ऐसे अवसरो को हाथ से नही जाने देना चाहता। दूसरी जातियो के जो आचार व्यवहार और उपासना-विधान (जैसे, मूर्त्तिपूजन) थे आसमानी किताब मे वे पापो की सूची में डाल दिए गए। इस प्रकार अंतःकरण की इन वृत्तियो से प्रेरित होकर एशिया के पच्छिमी कोने पर जिस एकेश्वरवाद की स्थापना हुई उसके कारण बड़े

बड़े अनर्थ संसार में हुए। अरब मे पहुँच कर उसने जो रूप धारण किया उसका साक्षी इतिहास है।

उपर्युक्त तीनो अनार्य्य (शामी) पैगंबरी मतों मे एक ईश्वर की जो प्रतिष्ठा हुई वह तत्त्वचितन के उपरांत नही, अतः उसमे उस व्यापकत्व का अभाव रहा जो उदार दृष्टि के लिए आवश्यक है। बहुदेवोपासना मे जो उदार भाव था वह इस एकेश्वरोपासन मे जाता रहा। बहुदेवोपासक जगत् मे अनेक देवता मानते थे इससे दूसरी जातियो को अपने से भिन्न देवताओ की उपासना करते देख वे द्वेष नही मानते थे। दूसरी जाति के देवताओ को ग्रहण करने या अपने देवताओ का नामांतर समझने तक के लिए वे तैयार रहते थे॥। पर जिन जातियो के बीच इस पैगंबरी एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ वे एक ईश्वर को अपना अलग देवता मानने लगीं जिसका परिचय यदि किसी को हो सकता था तो उन्ही के पैगंबरो

॥ यूनानी लोग जब पहलेपहल भारतवर्ष में आए तब उन्होंने शिव, विष्णु आदि देवताओ को अपने ज्युपिटर, हर्क्युलीज आदि देवताओं के ही रूपातर समझा। सभ्य और तत्वज्ञानसंपन्न होने के कारण उनके भाव उदार थे। ईसा से १४० वर्ष पूर्व के तक्षशिला के यूनानी राजा अंटियाल्किडस के राजदूत हेलिआडोरस ने, जो विदिशा के हिंदू राजा के यहा रहता था, वासुदेव प्रीत्यर्थ एक विशाल गरुड़स्तंभ बनवाया था जो अभी थोड़े दिन हुए बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में मिला था। उसकी इस विष्णुभक्ति की निंदा किसी यूनानी लेखक ने नहीं की है।

द्वारा। प्रत्येक पैगंबरी मत के ईश्वर के साथ साथ एक एक पैगंबर लगा हुआ है जिसे मानना उस एक ईश्वर के मानने से कम आवश्यक नहीं है।

इस पैगंबरी एकेश्वरवाद के पहले संसार मे मतसंबंधी युद्ध नहीं होते थे। भारतीय आर्य्य, पारसी, खाल्दी, मिस्री, यूनानी और रोमन इत्यादि जो ज्ञानसमृद्ध और सभ्य बहुदेवोपासक जातियाँ थी उनके बीच कभी इस बात को लेकर युद्ध नहीं हुआ कि हमारा देवता तुम्हारे देवता से बड़ा है, तुम हमारे देवता को मानो। योरप मे साहित्य, दर्शन, विज्ञान और शासनकला की जो इतनी उन्नति हुई वह बहुदेवोपासक प्राचीन यूनानियो और रोमनो के प्रसाद से, अनार्य्य ईसाई मत के प्रसाद से नहीं। ईसाई मत के द्वारा, सच पूछिए, तो ज्ञान की गति मे बाधा ही पड़ती रही। संकीर्ण नीव पर पैगंबरी मतो की स्थापना होने के कारण उनके अनुयायियो मे व्यापक उदारता का अभाव रहा। उनकी समझ मे उन्हे छोड़ और सारे संसार के लोग उनके खुदा के दुश्मन थे। अंगरेज़ कवि अंधे मिल्टन तक ने प्राचीन सभ्य जातियों के देवताओं को शैतान की फौज मे भरती कर के अपने कट्टरपन का—अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति का—परिचय दिया है। उसने यह न सोचा कि ईसाई मत के प्रचार के बहुत पूर्व सभ्य मनुष्यजातियो में धर्म, शील और आचार के अत्यंत उच्च आदर्श प्रतिष्ठित थे।

भारतीय आर्य्यों के बीच उपनिषत्काल मे ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी इससे उसके स्थूल निरूपण से भी

किसी प्रकार का विप्लव नही हुआ। केनोपनिषद् में ब्रह्म के बोध के संबंध मे एक गाथा है जो शायद ईसाई उपदेशको को बहुत पसंद आवे। एक बार एक बड़ा भारी यक्ष प्रकट हुआ। इंद्र ने अग्नि को उसका परिचय जानने के लिए भेजा। अग्नि से उस यक्ष ने पूछा "तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है ?" अग्नि ने कहा "मैं अग्नि हूं, यदि चाहूं तो क्षण भर मे सब लोको को भस्म कर सकता हूं।" यक्ष ने एक तिनका दिखा दिया और कहा—"इसे तो भस्म करो"। अग्नि ने बहुत यत्न किया पर वह तिनका न जला, ज्यो का त्यो रहा। फिर वायुदेवता उस यक्ष के पास गए। यक्ष ने पूछा "तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है ?" वायु ने कहा— "मैं वायु हूं, यदि चाहूं तो क्षण भर मे सब कुछ उड़ा सकता हू"। यक्ष ने वायु को भी वही तिनका दिखा कर कहा "इसे तो उड़ाओ"। वायु ने बहुत वेग दिखाया पर वह तिनका जगह से न हटा। अंत मे इंद्र आप वहाँ गए, पर उनके जाते ही यक्ष अंतर्द्धान होगया। इतने मे वहाँ "उमा हैमवती" प्रकट हुई। उन्होने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था।

ब्रह्म या ईश्वर की इस स्थूल भावना से भी यहाँ किसी प्रकार का मतोन्माद नही उत्पन्न हुआ। बात यह थी कि जब आर्य्यजाति सम्यक् तत्वदृष्टि प्राप्त कर चुकी तब आगे चल कर 'एक' और 'अनेक' को लेकर झगड़ा करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही। अधिकारभेद से एक और अनेक की उपासना साथ साथ बराबर चलती रही। एक ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी अनेक देवताओ के निमित्त

यज्ञादि होते रहे, बंद नहीं हो गए। अनेकत्व और एकत्व के बीच इस अविरोधबुद्धि ने हिंदूधर्म के क्षेत्र को आरंभ ही से ऐसा अपरिमित रखा कि वह व्यक्तिबद्ध न होने पाया, उसमे वह संकीर्णता न आने पाई जो व्यक्ति विशेष के आश्रित पैगंबरी मतों मे देखी जाती है। कर्म, ज्ञान और उपासना तीनो काडों के परस्पर संबद्ध होने से जिस प्रकार एक में ऊँची नीची श्रेणियाँ मानी गई उसी प्रकार दूसरे में भी। एक सत्य से दूसरे, दूसरे से तीसरे, इस प्रकार छोटे से बड़े, फिर उससे बड़े सत्य की अखंड परंपरा स्वीकृत की गई। इंगलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने भी यही कहा है कि कोई मत कैसा ही हो उसमे कुछ न कुछ सत्य का अंश रहता है। भूतप्रेत-वाद से लेकर बड़े बड़े दार्शनिक वादो तक सब मे एक बात समान रूपसे देखी जाती है कि सब के सब संसार का मूल कोई अज्ञेय और अप्रमेय रहस्य समझते है जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है, पर कर नहीं सकता। इसी बात पर दृष्टि रखने से हिंदुओ को दूसरी जातियो से अनाचार और अस्वच्छता (अशौच) आदि के कारण चाहे कुछ घृणा रही हो, पर अन्य देवता की उपासना के कारण द्वेष रखने की प्रवृत्ति नही हुई। श्रीकृष्ण भगवान् का स्पष्ट कहना है कि येऽप्यन्य देवताभक्ता यजते श्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेव, कौन्तेय. यजंत्यविधिपूर्वकम्। केवल 'अविधि पूर्वकम्' के लिए मारकाट की कोई जरूरत नही समझी गई।

प्राचीन आर्य्य (भारतीय) धर्म में धर्माधर्म ईश्वर की किसी विशेष रूप मे भावना या किसी देवता विशेष की आरा-

धना पर नहीं ठहराया गया। वेदव्यास जी ने अत्यंत उदार भाव से कहा है कि धर्मात्मा पुरुष वर्णाश्रमधर्म (आर्य या हिंदूधर्म) के बाहर भी हैं। उन्होंने आर्यधर्म को न जानने या न माननेवाली विदेशीय जातियो को धर्मशून्य नहीं बताया। श्रीकृष्ण ने कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। यही कारण है कि प्राचीन आर्यों को अपना आचार और अपना विचार दूसरो के गले मढ़ने की उत्कंठा नहीं हुई। देशकाल के अनुसार जहां जो धर्मव्यवस्था स्थापित थी वहाँ के लिए वे उसी को उपयुक्त समझते थे। उपनिषत्काल मे एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना परिपक्व होकर पूर्णरूप स जब प्रतिष्ठित हुई तब तक भूमंडल पर शायद बाबुल को छोड़ और कहीं नहीं हुई थी। पर उस एक ईश्वर या ब्रह्म को लेकर प्राचीन आर्य्य दूसरी सभ्य या असभ्य जातियों का गला काटने के लिए नहीं दौड़े थे। उन्हे यह पूर्ण ज्ञान था कि यह 'एक' 'अनेक' की समष्टि है अथवा 'अनेक' इस 'एक' के ही आभास हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है 'भेदो में अभेद' दृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनो का लक्ष्य है। विज्ञान इसी अभेद की खोज मे है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।

रामचन्द्र शुक्ल।

विश्वप्रपंच

पहला प्रकरण

१९ वी शताब्दी के अंत मे मानव-ज्ञान की जो अपूर्व वृद्धि हुई है वह ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा हमारी सारी आधुनिक सभ्यता का रंग ही पलट गया है। हम लोगो ने प्राकृतिक सृष्टि का बहुत कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर केवल सच्चे और निर्भ्रांत सिद्धांत ही नहीं स्थिर किए है बल्कि अपने ज्ञान का विलक्षण उपयोग कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि मे करके दिखाया है। पर इस ज्ञान के द्वारा हम अपने आचार और व्यवहार मे बहुत कम क्या कुछ भी उन्नति नही कर सके है। इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध गति के कारण हमारे जीवन मे बड़ी भारी अव्यवस्था दिखाई पडती है जो आगे चलकर समाज के लिये अनर्थकारिणी होगी। अत प्रत्येक शिक्षित और सभ्य मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह मानव जीवन से इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न करे। यह तभी होगा जब संसार का वास्तविक और सत्य ज्ञान होगा और उस ज्ञान के अनुसार मानव-जीवन के भिन्न भिन्न अंगो की योजना होगी।

१९ वी शताब्दी के आरंभ मे विज्ञान की जो अपूर्ण दशा थी उसकी ओर ध्यान देते हुए यही कहना होगा कि गत

५० वर्षों के बीच विज्ञान ने बड़ी विलक्षण उन्नति की है, विज्ञान के प्रत्येक विभाग मे बहुत सी नई नई बातो की जानकारी प्राप्त हुई है। खुर्दबीन के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओ का और दूरबीन के द्वारा बड़ी से बड़ी वस्तुओ का जो परिज्ञान प्राप्त हुआ है वह आज से सौ वर्ष पहले असंभव समझा जाता था। सूक्ष्मदर्शकयंत्र के प्रयोग और प्राणिविज्ञान के गूढ अन्वेषणो द्वारा क्षुद्र कीटाणुओ के अनंत भेदो का ही पता नही चला बल्कि यह भी जाना गया कि सूक्ष्म घटक* ही मे सेंद्रिय या सजीव सृष्टि का वह मूल तत्त्व है जिसकी सामाजिक योजना से सारे प्राणियो का—क्या चर क्या अचर, क्या उद्भिज क्या मनुष्य—शरीर बना है। शरीर-विज्ञान के द्वारा अब यह भली भांति सिद्ध हो गया है कि एक ही घटक से अर्थात् सूक्ष्म गर्भांड से बड़े से बड़े अनेकघटक जीवो का विकाश होता है। घटक सिद्धांत के द्वारा हम अब जीवो के उन समस्त आधिभौतिक, रासायनिक और यहाँ तक कि मानसिक व्यापारो का सच्चा रहस्य जान सकते है जिनके लिये पहले एक 'अलौकिक शक्ति' या 'अमर आत्मा' की कल्पना करनी पडती थी। इस सिद्धांत के द्वारा रोगो के ठीक निदान मे भी चिकित्सको को बड़ी सहायता मिली है।

इसी प्रकार निरिंद्रिय(जड़) भौतिक सृष्टि-संबंधी आविष्कार भी कम ध्यान देने योग्य नहीं है। दृष्टिविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, चुंबकाकर्षण निर्माणविज्ञान (जिसके द्वारा अनेक प्रकार की कलें आदि बनती है), गतिशक्तिविज्ञान इत्यादि भौतिक

* दे० भूमिका।

विज्ञान की सब शाखाओ की अद्भुत उन्नति हुई है। सब मे वडी वात जो विज्ञान ने सिद्ध की है वह अखिल विश्व की शक्तियो की एकता है। तापसंबंधी भौतिक सिद्धांत ने स्थिर कर दिया है कि ये समस्त शक्तियाँ किस प्रकार एक दूसरे से संवद्ध है और किस प्रकार एक शक्ति दूसरी शक्ति के रूप मे परिवर्त्तित हो सकती है। किरणविश्लेषण * विद्या ने यह वात स्पष्ट कर दी है कि जिन द्रव्यो से पृथ्वी पर के सारे पदार्थ वने है उन्ही द्रव्यो से ग्रह, नक्षत्र, सूर्य आदि भी वने है—उनमे पृथ्वी से परे कोई द्रव्य नही है। ज्योतिर्विज्ञान ने हमारी दृष्टि को ब्रह्मांड के वीच बहुत कुछ फैला दिया है और अव हमे अगाध अंतरिक्ष के वीच लाखो घूमते हुए पिडो का पता है जो हमारी पृथ्वी से भी बड़े है और एक अखंड क्रम के साथ वनते विगड़ते चले जा रहे है। रसायनशास्त्र ने हमे अनेक द्रव्यो का परिज्ञान कराया है जो सव के सब थोड़े से (लगभग ७५) मूलद्रव्यो से वने हैं। ये मूलद्रव्य इसलिये कहलाते है कि विश्लेपण करने पर इनमे दूसरे द्रव्य का मेल नहीं पाया जाता। इन मूलद्रव्यो मे से कोई कोई जीवन-व्यापार में वड़े काम के है। इनमे से कारवन या अंगारतत्त्व (कोयला) ही से अनन्त प्रकार के सेंद्रिय पिडो की योजना होती है। इसी से इसे "जीवन का रासायनिक आधार" कहते है। इन सब से

* Spectroscope नामक यत्र से भिन्न भिन्न प्रकार के किरणो (जैसे सूर्य की, लपट की) परीक्षा की जाती है। किरणो की छोटाई वड़ाई और रंग से यह जाना जा सकता है कि किस प्रकार के रासायनिक द्रव्यो से वे आ रही है।

बढ कर आधिभौतिक शास्त्र के एक परम गुण का प्रतिपादन है जिसके अंतर्भूत समस्त भौतिक और रासायनिक गुण है। सृष्टि-संबंधी इस मूल सिद्धांत द्वारा यह स्थिर हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति (गति) दोनों नित्य है और संपूर्ण ब्रह्मांड मे सदा एकरस रहते हैं। यही सिद्धांत हमारे तत्त्वाद्वैतवाद का आधार है जिसके द्वारा हम सृष्टि-रहस्य के उद्घाटन मे प्रवृत्त हो सकते है।

इस परमतत्त्व के प्रतिपादन के साथ ही साथ इसका पोषक एक दूसरा आविष्कार भी हुआ जिसे विकाश-वाद कहते है। यद्यपि हजारो वर्ष पहले कुछ दार्शनिको ने पदार्थों के विकाश की चर्चा की थी, पर यह जगत् "परमतत्त्व के विकाश" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यह उन्नीसवीं शताब्दी मे ही पूर्ण रूप से स्थिर किया गया। उक्त शताब्दी के पिछले भाग मे ही यह सिद्धांत स्पष्टता और पूर्णता को पहुँचा। इसके नियमो को प्रत्यक्ष के आधार पर स्थिर करने और संपूर्ण सृष्टि मे इसकी चरितार्थता दिखाने का यश डारविन को प्राप्त है। सन् १८५९ मे उसने मनुष्य की उत्पत्ति के उस सिद्धांत को एक दृढ़ नीव पर ठहराया जिसका ढाँचा कुछ कुछ फरासीसी प्राणिवेत्ता ला-मार्क ने खडा किया था और जिसका आभास भविष्यद्वाणी के समान जर्मनी के सब से बड़े कवि गेटे नें सन् १७९९ मे दिया था। आज जो हम इस 'विकाश-क्रम' को तथा सृष्टि के बीच समस्त प्राकृतिक व्यापारो को समझने मे समर्थ हुए है वह इन्ही तीन नररत्नो के प्रयत्न का फल है।

प्रकृति के इस परिज्ञान के बल से हमारे जीवन के व्यवहारो मे बड़ा भारी परिवर्त्तन हुआ है। आज रेल, तार, टेलिफोन आदि के द्वारा हमने जो दिक्काल-संबधी बाधाओ को दूर किया है और भूमंडल के समस्त देशो के बीच व्यापार का जाल फैला कर "व्यापारयुग" उपस्थित किया है—यह सब भौतिक विज्ञान की उन्नति का—विशेषतः भाप और बिजली की शक्ति के प्रयोग का—प्रसाद है। इसी प्रकार जब फोटोग्राफी द्वारा बात की बात मे हम वस्तुओ का तद्रूप चित्र उतरते, कृपि आदि व्यवसायो की इतनी उन्नति होते, और क्लोरोफार्म, मरफिया आदि के प्रयोग द्वारा पीड़ा को शमन होते देखते है तब हमे रसायन शास्त्र की उन्नति के महत्त्व का ध्यान होता है। पर प्राचीन काल की अपेक्षा हमने इस वर्त्तमान काल मे वैज्ञानिक विपयो मे कितनी उन्नति की है यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि अधिक विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं ।

पर जिस प्रकार हमें आजकल के प्रकृति सबधी परिज्ञान की उन्नति को देख गर्व और आनंद होता है उसी प्रकार जीवन के कुछ बड़े बड़े विभागो की दशा देख खेद और सताप होता है। हमारी शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था और शिक्षा-पद्धति—यहाँ तक कि हमारे सारे सामाजिक और आचारसंबंधी व्यवहार—अभी तक असभ्य दशा मे है। न्याय ही को लीजिए जिसे देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमारे सृष्टि और मनुष्य-संबंधी वर्त्तमान समुन्नत ज्ञान के उपयुक्त है। नित्य अदालतो मे ऐसे ऐसे विलक्षण फैसले होते है

जिन्हें सुन कर अफसोस आता है। न्यायाधीशो की भूले अधिकतर इस कारण होती हैं कि वे अच्छी तरह तैयार नही रहते। उनकी ठीक शिक्षा नहीं होती। कानून की शिक्षा ही उनकी शिक्षा कहलाती है। पर यह शिक्षा कुछ पारिभाषिक शब्दो और कुछ लोगो के बनाए हुए नियमो की उद्धरणी के अतिरिक्त और है क्या? न तो वे शरीरतत्त्व को जानते हैं और न उसके उन व्यापारो को जिसे 'मन' कहते है। उन्हे यह सब जानने के लिये समय कहाँ? उनका समय तो इधर उधर की बातो तथा नजीरो को याद करने मे जाता है।

शासन-व्यवस्था पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, क्योकि उसकी वर्त्तमान शोचनीय दशा सब पर विदित है। इस दशा का मुख्य कारण यह है कि वर्त्तमान शासकवर्ग के लोग उन सामाजिक संबधो से अनभिज्ञ होते हैं जिनके मूल रूपो का पता जंतुविज्ञान, विकाशवाद, घटकवाद तथा कीटाणुवाद के अध्ययन द्वारा मिलता है। राष्ट्ररूपी समाज-शरीर के संघटन और जीवन का ठीक ठीक ज्ञान हमे तभी हो सकता है जब हम उन शक्तियो के संघटन और व्यापार का जिनसे वह बना है तथा उन घटको का जिनसे कि प्रत्येक व्यक्ति बना है, वैज्ञानिक परिज्ञान प्राप्त करे। दूसरा बुरा प्रभाव जो शासन-संस्थाओ की उन्नति का बाधक है वह मत या मजहब का है। जब तक वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार द्वारा मनुष्य और जगत् की प्राकृतिक स्थिति का परिज्ञान सर्व-साधारण को न कराया जायगा तब तक शासन मे उन्नति नही हो सकती। राष्ट्र चाहे एकतंत्र हो चाहे लोकतंत्र (पंचायती)

शासन-व्यवस्था चाहे नियंत्रित हो चाहे अनियंत्रित इसकी कोई बात नहीं।

सर्वसाधारण की शिक्षा की ओर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि उसकी दशा भी हमारे इस वैज्ञानिक उन्नति के युग के अनुकूल नहीं है। भौतिक विज्ञान, जो कि इतने महत्त्व का है, यदि स्कूलों में पढ़ाया भी जाता है तो गौण रूप से। प्राय. प्रधान स्थान इन मृतप्राय भाषाओं और पुरानी बातों की शिक्षा को दिया जाता है जिनमें अब कोई लाभ नहीं। सारांश यह कि इस बात का जैसा चाहिए वैसा प्रयत्न नहीं हो रहा है कि जनता से अंधविश्वास दूर हो और लोगों को बुद्धिबल द्वारा सुख और उन्नति का पथ प्राप्त करने का अवसर मिले। सर्वसाधारण अभी उन्हीं पुराने विचारों में बद्ध रक्खे गए हैं जिनकी नि सारता भली भाँति सिद्ध हो चुकी है। पुराने किस्से कहानियों और आकाशवाणियों के आगे बुद्धि का कुछ जोर चलने नहीं पाता। क्या दर्शन, क्या धर्म, क्या न्याय, सब इन पुराने बंधनों से जकड़े हुए हैं।

उपर्युक्त अव्यवस्था के प्रधान कारणों में से एक वह है जिसे हम "पुरुषवाद" कह सकते हैं। इस शब्द के अंतर्गत वे समस्त लोकप्रचालित और प्रबल भ्रांत मत हैं जो मनुष्य को संपूर्ण प्रकृति से एक ओर करके उसे चर सृष्टि का दैव-निश्चित परम लक्ष्य बतलाते हैं। इन विचारों के अनुसार मनुष्य संपूर्ण सृष्टि से परे और ईश्वरांश है। यदि इन विचारों की अच्छी तरह परीक्षा करें तो जान पड़ेगा कि ये तीन रूपों में संसार में पाए जाते हैं—पुरुषोत्कर्षवाद, पुरुषाकारवाद और पुरुषार्चनवाद।

(१) पुरुषोत्कर्षवाद का भाव यह है कि मनुष्य सृष्टि का दैवनिश्चित परम लक्ष्य है, वह आदि ही से वड़ा वना कर भेजा गया है। यह भ्रांति मनुष्य के स्वार्थ के अनुकूल है और तीनो शामी पैगंवरी मतों की (यहूदी, ईसाई और मुसल्मान) सृष्टिकथा से संवंध रखती है अत. इसका प्रचार भूमंडल के वहुत वडे भाग मे है।

(२) पुरुपाकारवाद भी इन तीनो तथा और अनेक मतो से संवंध रखता है। यह जगत् की सृष्टि और परिचालन को एक चतुर कारीगर की रचना और एक वुद्धिमान् राजा के शासन के सदृश वतलाता है। इसके अनुसार पृथ्वी को वनाने, धारण करने और चलानेवाला ईश्वर मनुष्य ही की तरह विचार और काम करनेवाला है। फिर तो बनी वनाई बात है कि मनुष्य ईश्वर-सदृश है। वाइविल मे लिखा है-"ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही आकार का वनाया"। प्राचीन सीधे सादे देववाद मे देवता मनुष्य ही की तरह रक्त मांस के शरीरवाले समझे जाते थे। प्राचीन देववाद तो किसी प्रकार समझ मे आ भी सकता है, पर आज कल का निराकार-ईश्वरवाद विलक्षण है जिसमे ईश्वर को एक ऐसा अगोचर या हवाई जंतु मान कर आराधना की जाती है जो मनुष्यो की तरह विचार करता, वोलता और काम करता है।

(३) पुरुषार्चनवाद भी मनुष्य और ईश्वर के व्यापारो के मिलान का फल है। यह मनुष्य मे ईश्वरत्त्व के गुण का आरोप करता है। इसी से आत्मा के अमरत्त्व का विश्वास उत्पन्न हुआ है और मनुष्य के जड (शरीर) और चेतन

(आत्मा) दो विभाग किए गए है। अब जनसाधारण की यह सनक है कि आत्मा इस नश्वर शरीर मे थोड़े दिनो का मेहमान है।

इन तीनो प्रचलित प्रवादो से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हुए है। जगत् को इस प्रकार मानव-व्यापार की दृष्टि से देखना हमारे तत्त्वाद्वैत सिद्धांत के नितांत विरुद्ध है और विश्वसंबंधी वैज्ञानिक विवेचन से सर्वथा असिद्ध है।

इसी प्रकार द्वैतवाद (जो आत्मा और शरीर अथवा द्रव्य और शक्ति को पृथक् मानता है) तथा प्रचलित मतो (मजहबो) के और और विचार भी तत्त्वाद्वैतवाद की विश्व-विज्ञान दृष्टि से नि सार ठहरते है। उक्त दृष्टि से यदि देखते है तो हम निम्नलिखित सिद्धांतो पर पहुँचते है जिनमे से अधिक की आलोचना सम्यक् रूप से हो चुकी है—

(१) जगत् नित्य, अनादि और अनंत है।

(२) इसका परमतत्त्व अपने दोनो रूपो (द्रव्य और शक्ति) के सहित अनत दिक् मे व्याप्त है और सदा गति मे रहता है।

(३) मूल गति का प्रवाह अनंत काल के मध्य अखंड क्रम से चला करता है। इसमे कहीं सृष्टि से विकृति कही विकृति मे सृष्टि बराबर होती रहती है।

(४) दिग्व्यापी आकाश द्रव्य (ईथर) के बीच जो असंख्य पिड फैले है वे सब के सब परमतत्त्व के नियमो के अनुसार चलते है। यदि एक दिग्विभाग के कुछ घूमते हुए पिड क्रमशः नाश या लय की ओर जाते हैं तो दूसरे दिग्विभाग मे क्रमश.

नए नए उत्पन्न होते और बनते हैं। यह क्रम सदा चलता रहता है।

(५) हमारा सूर्य इन्ही असंख्य नश्वर पिंडो मे से एक है और हमारी पृथ्वी उन और भी अल्पकालस्थायी छोटे छोटे पिडो मे से है जो इन्हे घेरे है।

(६) हमारी पृथ्वी को ठंढा होने मे बहुत काल लगा है तब जा कर उस पर द्रव रूप मे जल (जीवोत्पत्ति का पहला आधार) ठहरा है।

(७) एक प्रकार के मूल जीव से क्रमश असख्य ढॉचे के जीवो के उत्पन्न होने मे करोडो वर्ष का समय लगा है।

(८) इस जीवोत्पत्ति-परम्परा के पिछले खेवे मे जितने जीव उत्पन्न हुए रीढवाले जंतु, विकास या गुणोत्कर्ष द्वारा उन सब से बढ़ गए।

(९) पीछे इन रीढ़वाले जीवो की सब से प्रधान शाखा दूध पिलानेवाले जीव कुछ जलचरो और सरीसृपों से उत्पन्न हुए।

(१०) इन दूध पिलानेवाले जीवो मे सब से उन्नत और पूर्णताप्राप्त किंपुरुष शाखा है (जिसके अंतर्गत मनुष्य, बन-मानुस आदि है) जो लगभग ३० लाख वर्ष के हुए होगे कि कुछ जरायुज जंतुओ से उत्पन्न हुई।

(११) इस किंपुरुष शाखा का सब से नया और पूर्ण कक्षा मनुष्य है—जो कई लाख वर्ष हुए कुछ बनमानुसो से निकला। अस्तु।

(१२) जिसे हम संसार का इतिहास कहते है और जो

कुछ हजार वर्षों की सभ्यता का संक्षिप्त वृत्तांत मात्र है वह इस दीर्घ परंपरा के आगे कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार इस दीर्घ परंपरा का इतिहास भी हमारे सौर जगत् के इतिहास का अत्यंत क्षुद्र अंश है। इस अनंत ब्रह्मांड के बीच हमारी पृथ्वी सूर्य की किरण मे दिखाई देनेवाले अणु के समान है और मनुष्य सजीव सृष्टि के नश्वर प्रसार के बीच कललरस (Protoplasm) की एक क्षुद्र कणिका मात्र है।

इस विशुद्ध और विस्तृत वैज्ञानिक दृष्टि से जब हम ब्रह्माड को देखेंगे तब जाकर विश्व के अनेक रहस्यो को समझने का मार्ग पावेंगे, तब जाकर हम समझेंगे कि मनुष्य का स्थान इस सृष्टि के बीच कहाँ है। मनुष्य अहंकारवश अपने को अखिल सृष्टि से अलग करके अपने मे 'अमृत तत्त्व' का आरोप करता है। वह अपने को 'ईश्वरांश' और अपने क्षणिक व्यक्तित्व को 'अमर आत्मा' कहता है। यह अहंकार और भ्रम विना विस्तृत विज्ञानदृष्टि के दूर नहीं हो सकता।

असभ्यो को सृष्टि के अनेक व्यापार पहेली समझ पडते हैं। ज्यों ज्यो सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यो त्यो इन पहेलियो या समस्यायो की संख्या घटती जाती है, बहुत से व्यापार समझ मे आने लगते हैं। अब तत्त्वाद्वैतवाद में केवल एक ही भारी पहेली रह गई है, एक ही 'परमतत्त्व' की समस्या रह गई है। जर्मनी के एक वक्ता ने थोडे दिन हुए संसार-संबंधी ये सात समस्याएँ गिनाई थीं—

(१) द्रव्य और शक्ति का वास्तविक तत्त्व।

(२) गति का मूल कारण।

(३) जीवन का मूल कारण ।

(४) सृष्टि का इस कौशल के साथ क्रमविधान ।

(५) संवेदना और चेतना का मूल कारण ।

(६) विचार और उससे संबद्ध वाणी की शक्ति ।

(७) इच्छा का स्वातंत्र्य ।

इनमे से पहली दूसरी और पॉचवी तो उस वक्ता की समझ मे नितांत अज्ञेय और भूतादि से परे है। तीसरी, चौथी और छठीं का समाधान हो सकता है पर अत्यंत कठिन है। सातवीं के विषय मे वह अपना कोई निश्चय नहीं बतला सका।

मेरी सम्मति मे जो तीन समस्याएँ भूतो से परे कही गई है उनका समाधान हमारे परमतत्त्व-विषयक विवेचना से हो जाता है (देखो, प्रकरण १२ वॉ) और जो तीन अत्यंत कठिन बतलाई गई है उनका ठीक ठीक उत्तर आधुनिक विकाशवाद से मिल जाता है। अब रही सातवी, इच्छा की स्वतंत्रता। उसके विषय मे विचार करना ही व्यर्थ है क्योकि वह शुद्ध भ्रम और मिथ्या प्रवाद मात्र है।

इन समस्याओ के समाधान के लिये हमने उसी प्रणाली का अनुसरण किया है जिससे और सब वैज्ञानिक अन्वेषण किए जाते है—प्रथम तो प्रत्यक्षानुभव, फिर अनुमान। वैज्ञानिक अनुभव हमे साक्षात्कार और परीक्षा द्वारा प्राप्त होता है जिसमे पहले तो इंद्रियो के व्यापार से सहायता ली जाती है फिर मस्तिष्क मे स्थित अंतःकरण के व्यापार से। पहले के आधारभूत सूक्ष्म करण इंद्रियघटक है और दूसरे के मस्तिष्क ग्रंथिघटक। बाह्य जगत् के जो अनुभव हम इन करणो द्वारा

प्राप्त करते हैं उनसे मस्तिष्क के दूसरे भाग मे भाव बनते है जो अनुबंध द्वारा मिल कर शृंखला की योजना करते है। इस विचारशृंखला की योजना दो प्रकार से होती है—व्याप्तिग्रह (यह अनुमान कि जो बात किसी वर्ग की कुछ वस्तुओ के विषय मे ठीक है वही उसके अंतर्गत सब वस्तुओ के विषय मे भी ठीक है) और व्यष्टिग्रह (यह अनुमान कि जो बात किसी समूह के विषय मे ठीक है वही उसके अंतर्गत किसी एक वस्तु के विषय मे भी ठीक है) के रूप मे। चेतना, विचार और तर्क आदि सब मस्तिष्क मे स्थित ग्रंथिघटको के व्यापार है। इन सब व्यापारो का अंतर्भाव 'बुद्धि' शब्द से हो जाता है।

बुद्धि ही के द्वारा हम संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते है और उसकी समस्याओ को समझ सकते है। बुद्धि मनुष्य की बड़ी भारी संपत्ति है, मनुष्य और पशु मे बुद्धि ही का भेद है। पर मानवबुद्धि इस पद को शिक्षा और संस्कार की उन्नति तथा ज्ञान की वृद्धि द्वारा पहुँची है। इस पर भी कुछ लोगो का ख्याल है कि इस बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के दो साधन और भी है—मनोद्गार और ईश्वराभास (इलहाम)। जहाँ तक शीघ्र हो सके हमें इस भारी भ्रम को दूर कर देना चाहिए। मनोद्गार अंत:करण की वह क्रिया है जिसके अंतर्गत इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, श्रद्धा, घृणा आदि है। मनोद्गार हमारे भिन्न भिन्न अवयवो के व्यापारो (जैसे पेट मे लगी भूख) तथा इंद्रियो की वासनाओ (जैसे प्रसंग की) से प्रेरित हो सकते है। उनसे भला सत्य के निर्णय मे क्या सहायता मिल

सकती है ? हाँ ! बाधा अलबत्त पहुँच सकती है। यही बात ईश्वराभास (इलहाम) वा 'ईश्वर प्रेरित ज्ञान' के विषय में भी कही जा सकती है जो धोखे के सिवाय और कुछ नहीं—चाहे धोखा जान बूझ कर दिया गया हो चाहे लोगो ने यो ही खाया हो।

जगत् संबंधी प्रश्नो के हल करने के लिये अनुभव और चिंतन ये दो ही मार्ग है। हर्ष का विषय है कि ये दोनो अब समान रूप से स्वीकृत हो चले है। दार्शनिक (चिंतन करने-वाले) अब समझने लगे है कि कोरे चिंतन से—जैसा कि प्लेटो और हैगल ने * अपने भावात्मक दर्शनो मे किया है—सत्य का ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अब यह जान गए है कि केवल प्रत्यक्षानुभव—जिसके आधार पर बेकन और मिल ने अपना प्रत्यक्षवाद स्थापित किया था—पूर्ण तत्त्वज्ञान के लिये काफी नहीं है। सत्यज्ञान की प्राप्ति इंद्रिय और अंतःकरण दोनो की क्रियाओ के योग से हो सकती है। पर अभी कुछ ऐसे दार्शनिक भी है जो योंही बैठे बैठे अपने भावमय जगत् की रचना किया करते है और अनुभवात्मक विज्ञान का इस लिये तिरस्कार करते है कि उन्हे संसार का यथार्थ बोध नहीं होता। इसी प्रकार कुछ वैज्ञानिक ऐसे भी है जो कहते है कि विज्ञान का परम लक्ष्य भिन्न भिन्न व्यापारो का अन्वेषण मात्र है, दर्शन का जमाना अब

---

* भारत के दार्शनिको ने भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया था।

गया।" इस प्रकार के एकांगदर्शी विचार परम भ्रमात्मक हैं। प्रत्यक्षानुभव और चिंतन ज्ञानप्राप्ति की ये दोनो प्रणालियाँ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे की सहायक हैं। विज्ञान के सब मे पहुँचे हुए आविष्कार—जैसे घटक सिद्धांत, ताप का गत्यात्मक सिद्धांत, विकाशवाद, परमतत्त्व की नियम-व्यवस्था—दार्शनिक विचार के फल हैं। पर वे कोरे अनुमान के फल नही, अत्यत विस्तृत, प्रत्यक्षाश्रित अनुमान के फल है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अब स्थिति बहुत कुछ बदल गई है। अब दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनो दल के लोग एक दूसरे की सहायता करते हुए दो भिन्न भिन्न मार्गों से एक ही प्रधान लक्ष्य की ओर जा रहे है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से दार्शनिको के परस्पर दो विरुद्ध दल दिखाई पड़ते है। एक तो द्वैतवादियो का, दूसरा अद्वैतवादियों का। द्वैतवाद ब्रह्मांड को दो भिन्न भिन्न तत्त्वो मे विभक्त करता है—एक भौतिक जगत् और दूसरा उसको बनाने, धारण करने और चलानेवाला ईश्वर जो समस्त भूतो से परे है। अद्वैतवाद ब्रह्माड मे केवल एक परमतत्त्व मानता है जो ईश्वर और प्रकृति दोनो है। वह शरीर और आत्मा (या द्रव्य और शक्ति) को परस्पर अभिन्न या अनवच्छेद्य मानता है। द्वैतवाद के भूतातीत ईश्वर को माननेवाले दैव-वादी और जगत और ईश्वर को ओतप्रोत भाव से माननेवाले ब्रह्मवादी या सर्वात्मवादी कहलाते है।

उपर्युक्त अद्वैतवाद और भूतवाद को एक मान कर प्रायः लोग गड़बड करते हैं। इस गड़बड़ से अनेक प्रकार के भ्रम

उत्पन्न हो सकते हैं। अत यहाँ पर दो बाते संक्षेप में बतला देना आवश्यक है—

(१) शुद्ध अद्वैतवाद न तो वह भूतवाद है जो आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करता और जगत् को जड़ परमाणुओं का ढेर बतलाता है, और न वह अध्यात्मवाद है जो भूतों का अस्तित्व नही मानता और जगत् को अभौतिक शक्तियों के विधान का समाहार मात्र बतलाता है।

(२) हमारा सिद्धांत तो यह है कि न तो द्रव्य की स्थिति और क्रिया आत्मा (या शक्ति) के बिना हो सकती है और न आत्मा की द्रव्य के बिना। द्रव्य (या अनंतव्यापी तत्त्व) और आत्मा (शक्ति या संविद् चेतन तत्त्व) दोनों उस विभु परम तत्त्व के दो मूल रूप या गुण है।

दूसरा प्रकरण।

हमारा शरीर।

जीवों के समस्त व्यापारों और धर्मों के अन्वेषण के लिए हमें पहले शरीर को लेना चाहिए जिसमें जीवनसंबंधिनी भिन्न भिन्न क्रियाएँ देखी जाती हैं। शरीर के केवल बाहरी भागों की परीक्षा से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें अपनी दृष्टि भीतर धँसा कर शरीर-रचना के साधारण विधानों तथा सूक्ष्म ब्योरों की जाँच करनी चाहिए। जो विद्या इस प्रकार का मूल अन्वेपण करती है उसे अंगविच्छेदशास्त्र * कहते हैं।

मनुष्य के शरीर की जाँच का काम पहले पहल चिकित्सा में पड़ा, अतः तीन चार हजार वर्ष पहले के प्राचीन चिकित्सकों को मनुष्य के शरीर के विषय में कुछ न कुछ जानकारी हो गई थी। पर ये प्राचीन शरीरविज्ञानी अपना ज्ञान मनुष्य के शरीर की चीरफाड़ द्वारा नहीं प्राप्त करते थे, क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार मनुष्य का शरीर चीरना फाड़ना बड़ा भारी अपराध गिना जाता था। बंदर आदि मनुष्य से मिलते जुलते जीवों के शरीर की चीरफाड़ द्वारा ही वे शरीरसंबंधिनी बातों का पता लगाते थे। सन् १५४३ में विसेलियस

---

* वह विद्या जिससे शरीर के भिन्न भिन्न भीतरी अवयवों के स्थान और उनकी बनावट का बोध होता है। इसमें चीरफाड़ कर अंगों की परीक्षा की जाती है इससे इसे अंगविच्छेदशास्त्र कहते हैं।

ने मनुष्य-शरीररचना पर एक बड़ी पुस्तक लिखी और शरीर-विज्ञान की नींव डाली। स्पेन में उसपर जादूगर होने का अपराध लगाया गया और उसे प्राणदंण की आज्ञा मिली। अपना प्राण बचाने के लिए वह ईसा की जन्मभूमि यरूशलम तीर्थ करने चला गया, वहाँ से वह फिर न लौटा।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह विशेषता हुई कि शरीर की बनावट की छानबीन के लिए दो प्रकार की परीक्षाएँ स्थापित हुई। तारतम्यिक अंगविच्छेद-विज्ञान * और शरीराणु विज्ञान। तारतम्यिक अंगविच्छेद-विज्ञान की स्थापना सन् १८०३ में हुई जब कि फरासीसी जंतुविद् क्यूवियर ने अपना वृहद् ग्रंथ प्रकाशित करके पहले पहल मनुष्य और पशु-शरीर-संबधी कुछ सामान्य नियम स्थिर किए। उसने समस्त जीवों को चार प्रधान भागों में विभक्त किया—मेरुदंड या रीढ़वाले जीव, कीटवर्ग (मकड़ी, केकड़े, बिच्छू, गुबरैले आदि), शुक्तिवर्ग (घोंघे आदि) और उद्भिदाकार कृमि †। यह बड़ा भारी काम हुआ क्योंकि इससे मनुष्य रीढ़वाले जीवों की कोटि में रक्खा गया। इसके उपरांत अनेक शरीरविज्ञानियों ने इस विद्या में बहुत उन्नति की और अनेक नई नई बातों का पता

---

* भिन्न भिन्न जंतुओं के अंगों को चीरफाड कर उनकी परीक्षा और उनका परस्पर मिलान।

†-बहुत से ऐसे जीव होते हैं जो देखने में पौधों की डाल पत्तियों के रूप के होते हैं। मूँगा इसी प्रकार का कृमि है जो समुद्र में पाया जाता है।

लगाया। जर्मनी के कार्ल जिजिनवावर ने तारतम्यिक शरीर-विज्ञान पर डारविन के विकासवाद के नियमो को घटा कर इस शास्त्र की मर्यादा वहुत वढ़ा दी। उसके पिछले ग्रंथ "मेरु-दंड जीवो की तारतम्यिक अंगविच्छेद परीक्षा" के आधार पर ही मनुष्य मे मेरुदड जीवों के सब लक्षण निर्धारित किए गए।

शरीराणु-विज्ञान का प्रादुर्भाव एक दूसरी ही रीति से हुआ। सन् १८०२ मे एक फरासीसी वैज्ञानिक ने मनुष्य के अवयवो के सूक्ष्म विधान का खुर्दबीन द्वारा विश्लेपण करने का प्रयत्न किया। उसने शरीर के सूक्ष्म तंतुओ के संवंध को देखना चाहा पर उसे कुछ सफलता न हुई क्योकि वह समस्त जतुओ के उस एक समवाय कारण से अनभिज्ञ था जिसका पता पीछे से चला। सन् १८३८ मे श्लेडेन (Schleiden) ने उद्भिद् सृष्टि मे समवाय रूप घटक का पता पाया जो पीछे से जतुओ मे भी देखा गया। इस प्रकार घटकवाद की स्थापना हुई। सन् १८६० मे कालिकर (Kollikar) और विरशो (Virchow) ने घटक तथा तंतु जाल संवंधी सिद्धांतो को मनुष्य के एक एक अवयव पर घटाया। इससे यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि मनुष्य तथा और सव जीवो का शरीरतंतुजाल अत्यंत सूक्ष्म (खुर्दबीन से भी जल्दी न दिखाई देनेवाले) घटको से वना है। ये ही घटक वे स्वतः क्रियमाण जीव है जो करोड़ो की संख्या मे व्यवस्थापूर्वक वस कर शरीररूपी विशाल राज्य की योजना करते हैं। इन्हींकी वस्ती या समवाय को शरीर कहते हैं। ये सब के सब

घटक एक साधारण घटक से जिसे गर्भांड कहते हैं उत्तरोत्तर विभागक्रम द्वारा उत्पन्न होते हैं। मनुष्य तथा और दूसरे रीढ़वाले जीवो की शरीररचना और योजना एक ही प्रकार की होती है। इन्हीं मे स्तन्य या दूध पिलानेवाले जीव है जिनकी उत्पत्ति पीछे हुई है और जो अपनी उन विशेपताओं के कारण जो पीछे से उत्पन्न हुई सब से उन्नत और बढ़े चढ़े है।

कालिकर के सूक्ष्मदर्शक यंत्रो के अन्वेपण द्वारा हमारा मनुष्य और पशुशरीरसंबंधी ज्ञान बहुत बढ़ गया और हमे घटको और तंतुओ के विकाशक्रम का बहुत कुछ पता चल गया। इस प्रकार सिबोल्ड (१८४५) के उस सिद्धांत की पुष्टि हो गई कि सब से निम्न श्रेणी के कीटाणु एकघटक (जिनका शरीर एक घटक मात्र है) जीव है।

हमारा शरीर, उसके ढाँचे का सारा ब्योरा, यदि देखा जाय तो उसमे रीढ़वाले जीवो के सब लक्षण पाए जायँगे। जीवों के इस उन्नत वर्ग का निर्धारण पहले पहल लामार्क ने १८०१ मे किया। इसके अंतर्गत उसने रीढ़वाले जीवो को चार बड़े कुलो मे बाँटा—दूध पिलानेवाले, पक्षी, जलस्थलचारी, * और मत्स्य। बिना रीढ़वाले कीड़े मकोडो के उसने दो विभाग किए। इसमें कोई संदेह नहीं कि सारे रीढ़वाले जीव हर एक बात मे परस्पर मिलते जुलते है। सब के शरीर के भीतर एक कडा ढाँचा

---

* इन जीवो को पानी मे साँस लेने के लिए गलफड़े (जैसे मछलियों के) और बाहर साँस लेने के लिए फेफड़े दोनों होते है। इससे वे जल में भी और स्थल पर भी रह सकते है।

अर्थात् तरुणास्थियो और हड्डियों का पंजर होता है। इस पंजर मे मेरुदंड और कपाल प्रधान हैं। यद्यपि कपाल की उन्नत रचना मे छोटे से बड़े जीवों मे उत्तरोत्तर कुछ भेद दिखाई पड़ता है पर ढॉचा एक ही सा रहता है। समस्त रीढ़वाले प्राणियो मे 'अंत करण' अर्थात् संवेदनवाहक सूत्रजाल का केंद्रस्वरूप मस्तिष्क इस मेरुदंड के छोर पर होता है। यद्यपि उन्नति की श्रेणी के अनुसार भिन्न भिन्न जीवो के मस्तिष्क मे बहुत कुछ विभिन्नताऍ दिखाई पड़ती है पर सामान्य लक्षण सब मे वही रहता है।

इसी प्रकार यदि हम अपने शरीर के और अवयवो का दूसरे रीढवाले जीवो क उन्ही अवयवो से मिलान करे तो भी यही बात देखी जायगी। पितृपरंपरा के कारण सब के शरीर का मूल ढॉचा और उसके अवयवो के विभाग समान पाए जाते है, यद्यपि स्थितिभेद के अनुसार भिन्नभिन्न जन्तुओ के विशेष विशेष अगो की बड़ाई छोटाई तथा बनावट मे फर्क देखा जाता है। सब मे रक्त दो प्रधान नलो से होकर बहता है जिनमे से एक अँतड़ियो के ऊपर ऊपर जाता है और दूसरा नीचे नीचे। यही दूसरा नल जिस स्थान पर चौड़ा हो जाता है वही हृदय है। हृदय रीढ़वाले जीवो मे पेट की ओर होता है और कीटपतंग आदि मे पीठ की ओर। इसी प्रकार और और अगो की बनावट भी सब रीढ़वाले जीवो की एक सी होती है। अस्तु, मनुष्य एक रीढ़वाला जीव है।

प्राचीन लोग मनुष्य और पक्षियो के अतिरिक्त तिर्य्यक पशुओं (गाय, कुत्ते आदि) को चतुष्पद कहते थे। क्यूवियर ने पहले पहल यह स्थिर किया कि द्विपाद मनुष्य और पक्षी

भी वास्तव मे चतुष्पद ही है। उसने अच्छी तरह दिखलाया कि मेढक से लेकर मनुष्य तक समस्त स्थलचारी उन्नत रीढ़वाले जीवो के चार पैरो की रचना एक ही नमूने पर कुछ विशेष अवयवो से हुई है। मनुष्य के हाथो और चमगादर के डैनो की ठटरी का ढॉचा वैसा ही होता है जैसा कि चौपायों के अगले पैर का। यदि हम किसी मेढक की ठटरी लेकर मनुष्य या वंदर की ठटरी से मिलावे तो इस वात का ठीक ठीक निश्चय हो सकता है। सन् १८६४ मे जिजिनवावर ने यह दिखलाया कि किस प्रकार स्थलचारी मनुष्यो का पॉच उंगलियोंवाला पैर आदि मे प्राचीन मछलियो के इधर उधर निकले हुए परो ही से क्रमश. उत्पन्न हुआ है। अस्तु, मनुष्य एक चतुष्पद जीव है।

रीढ़वाले जानवरो में दूध पिलानेवाले सव मे उन्नत और पीछे के है। पक्षियो और सरीसृपो के समान निकले तो ये भी प्राचीन जलस्थलचारी जंतुओ ही से है पर इनके अवयवो मे वहुत सी विशेपताएं है। वाहर इनके शरीर पर रोएँदार चमड़ा होता है। इनमे दो प्रकार की चर्मग्रंथिया होती है—एक स्वेदग्रंथि दूसरी मेदग्रंथि। उदराशय के चर्म मे एक विशेप स्थान पर इन ग्रंथियो की वृद्धि से उस अवयव की उत्पत्ति होती है जिसे स्तन कहते है और जिसके कारण इस वर्ग के प्राणी स्तन्य कहलाते है। दूध पिलाने का यह अवयव दुग्धग्रंथियो और स्तनकोश से वना होता है। वृद्धि प्राप्त होने पर चूचुक (ढिपनी) निकलते हैं जिनसे वच्चा दूध खींचता है। भीतरी रचना मे एक अंतरपट (मांस की

झिल्ली और नसों का बना हुआ परदा) की विशेषता होती है जो उदराशय को वक्षआशय से जुदा करता है। दूसरे रीढ़वाले जानवरों में यह परदा नहीं होता, यह केवल दूध पिलानेवालों में होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क, घ्राणेंद्रिय, फुप्फुस, बाह्य और आभ्यंतर जननेंद्रिय आदि की बनावट में भी बहुत सी विशेषताएँ दूध पिलानेवाले जीवों में होती हैं। इन सब पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि दूध पिलानेवाले जीव सरीसृपों और जलस्थलचारी जीवों से उत्पन्न हुए। यह बात कम से कम १२००००० वर्ष पहले हुई होगी। अस्तु, मनुष्य एक दूध पिलानेवाला स्तन्य जीव है।

आधुनिक जंतु विज्ञान में स्तन्य जीवों के भी तीन भेद किए गए हैं—अंडजस्तन्य *, अजरायुज पिंडज (थैलीवाले) †

---

* इस वर्ग के जीवों में एक ही कोठा होता है जिसमें मलवाहक, मूत्रवाहक और वीर्यवाहक नल गिरते हैं। ये चिड़ियों की तरह अंडे भी देते हैं और स्तन्य जीवों की तरह दूध भी पिलाते हैं। इस प्रकार के दो एक जानवर आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं। एक बत्तख चूस होती है जिसका सब आकार घूँस की तरह होता है पर मुँह बत्तख की चोंच की तरह का और पंजे बत्तख के पंजों की तरह के होते हैं। इसी प्रकार की एक साही भी होती है। ये पक्षियों और स्तन्य जीवों के बीच के जंतु हैं।

† इस वर्ग के जीव भी आस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों में पाए जाते हैं। इनके गर्भ में जरायु नहीं होता जिससे गर्भ के भीतर बच्चों का पोषण होता है, अतः बच्चे अच्छी तरह बनने

और जरायुज। ये तीनों सृष्टि के भिन्न भिन्न युगो मे क्रमश उत्पन्न हुए है। मनुष्य जरायुज जीवो के अंतर्गत है क्योकि उसमे वे सब विशेषताएं है जो जरायुजो मे होती है। पहली वस्तु तो वह है जिसे जरायु * कहते है और जिसके कारण जरायुज नाम पड़ा है। इसके द्वारा गर्भ के भीतर शिशु का बहुत दिनो तक पोषण होता है। यह गर्भ को आवृत करनेवाली झिल्ली से नल के रूप मे निकल कर माता के गर्भाशय की दीवार से संयुक्त रहता है। इसकी बनावट इस प्रकार की होती है कि माता के रक्त का पोषक द्रव्य शिशु के रक्त मे जाकर मिलता रहता है। गर्भपोषण

के पहले ही उत्पन्न हो जाते है और मादा उन्हे बहुत दिनो तक पेट के पास बनी थैली मे लिए फिरती है। कगारू नाम का जतु इसी वर्ग का है।

* जरायु के द्वारा ही भ्रूण माता के गर्भाशय से सयुक्त रहता है। यह गोल चक्र या तश्तरी के आकार का और स्पज की तरह छिद्र-मय होता है। मुख की ओर तो यह माता के गर्भाशय की दीवार से जुड़ा रहता है, पृष्ठ की ओर इसमे से एक लबा नाल निकल कर भ्रूण की नाभि तक गया रहता है। जरायुचक्र में बहुत से सूक्ष्म घट या उभरे हुए छिद्र रहते है जो गर्भाशय की दीवार के छिद्रो में घुसे होते है। इसी के द्वारा भ्रूण के शरीर मे रक्त सचार, पोषक द्रव्यो का समावेश और श्वासाविधान होता है। जरायु या उल्वनाल केवल पिडजो अर्थात् सजीव डिंभ प्रसव करनेवाले जीवों में ही होता है, अडजो आदि मे नहीं।

की इस विलक्षण युक्ति के बल से शिशु को गर्भ के भीतर बहुत दिनों तक रह कर वृद्धि प्राप्त करने का अवसर मिलता है। यह बात बिना जरायु के गर्भ में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की उन्नत रचना आदि के कारण भी जरायुज जीव अपने पूर्वज अजरायुज जीवों की अपेक्षा बड़े बड़े होते हैं। अस्तु, मनुष्य एक जरायुज जीव है।

जरायुज जीव भी अनेक शाखाओं में विभक्त किए गए हैं जिनमें से चार प्रधान हैं—छेद्यदंत (कुतरनेवाले),* खुर-पाद,† मांसभक्षी ‡ और किंपुरुष। इसी किंपुरुष शाखा के अंतर्गत बंदर, वनमानुस और मनुष्य हैं। इन तीनों में दूसरे जरायुज जीवों से बहुत सी विशेषताएँ समानरूप से पाई जाती हैं। तीनों के शरीर में लंबी लंबी हड्डियाँ होती हैं जो इनके शाखाचारी जीवन के अनुकूल हैं। इनके हाथों और पैरों में पाँच पाँच उँगलियाँ होती हैं। लंबी लंबी उँगलियाँ पेड़ों की शाखाओं को पकड़ने के उपयुक्त होती हैं। नख चौड़े होते हैं, टेढ़े नुकीले नहीं। तीनों की दंतावली पूर्ण होती है अर्थात् इन्हें चारों प्रकार के दाँत होते हैं—छेदनदंत, कुकुरदंत, अग्रदंत और चर्वणदंत (चौभर)। किंपुरुष शाखा के प्राणियों के कपाल और मस्तिष्क की रचना में भी विशेषता होती है। उन प्राणियों में जो काल पाकर अधिक उन्नत हो गए हैं और जिनका प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर पीछे हुआ है विशेषता अधिक

---

* जैसे चूहे, गिलहरी, खरगोश, † गाय, बकरी, हिरन आदि ‡ भेड़िया, बाघ इत्यादि।

होती गई है। सारांश यह कि मनुष्यशरीर में भी किंपुरुष शाखा के सब लक्षण विद्यमान है। अस्तु, मनुष्य किंपुरुष शाखा का एक जीव है।

ध्यानपूर्वक देखने से इस किंपुरुषशाखा के भी दो भेद हो जाते है—एक बंदर दूसरे पूरे वनमानुस। बंदर निम्नश्रेणी के और पहले के है, वनमानुस अधिक उन्नत और पीछे के हैं। बंदर की माता का गर्भाशय और दूसरे स्तन्य जीवो की तरह दोहरा होता है। इसके विरुद्ध पूरे वनमानुस के दहिने और बाएँ दोनो गर्भाशय मिले होते है और इस मिले हुए गर्भाशय का आकार वैसा ही होता है जैसा मनुष्य के गर्भाशय का। नर-कपाल के समान वनमानुस के कपाल मे भी नेत्रो के गोलक कनपटी के गड्ढो से हड्डी के एक परदे के द्वारा विच्छिन्न होते है। पर साधारण बंदरो मे या तो यह परदा बिलकुल नहीं होता अथवा अपूर्ण रूप मे होता है। इसके अतिरिक्त बंदर का मस्तिष्क या तो बिलकुल समतल होता है अथवा बहुत थोडा खुरदुरा या ऊँचा नीचा होता है और कुछ छोटा भी होता है। वनमानुस का मस्तिष्क बडा, उसके तल की रचना अधिक जटिल होती है। जितना ही जो वनमानुस मनुष्य के अधिक निकट तक पहुँचा हुआ होता है उसके मस्तिष्क के तल मे उतने ही अधिक उभार (अखरोट की गिरी के समान) होते है। अस्तु, मनुष्य मे वनमानुस के सब लक्षण पाए जाते है।

वनमानुसो के दो विलक्षण विभाग देश के अनुसार किए गए हैं। पश्चिमी गोलार्ध या अमेरिका के वनमानुस

चिपटी नाकवाले कहलाते है और पूर्वीयगोलार्ध या पुरानी दुनिया के पतली नाकवाले। चिपटी नाकवाले वनमानुसो का वंश इधर के पतली नाकवाले वनमानुसो से विलकुल अलग चला है। वे पुरानी दुनिया (एशिया, आफ्रिका) के वनमानुसो की अपेक्षा अनुन्नत हैं। अत. मनुष्य एशिया और अफ्रिका के पतली नाकवाले वनमानुसो ही की किसी अप्राप्य श्रेणी से उद्भूत हुए हैं।

एशिया और अफ्रिका में अव तक पाए जानेवाले पतली नाकवाले वनमानुसो के भी दो भेद है, पूंछवाले वन-मानुस और विना पूँछवाले नराकार वनमानुस। विना पूँछवाले मनुष्य जाति से अधिक समानता रखते है। नराकार वनमानुसो के पुट्ठे की रीढ़ पॉच कशेरुकाओं के मेल से वनी होती है और पूँछवाले वनमानुसो की तीन कशेरुकाओं के मेल से। दोनो के दॉतो की वनावट मे भी अंतर होता है। सव से वढ़ कर वात तो यह है कि यदि हम गर्भाशय की झिल्ली तथा जरायुज आदि की वनावट की ओर ध्यान देते है तो नराकार वनमानुस मे भी वेही विशेषताएँ पाई जाती है जो मनुष्य मे। एशियाखंड के ओरंगओटंग और गिवन तथा अफ्रिका के गोरिल्ला और चिपांजी नामक वनमानुस मनुष्य मे सव से अधिक समानता रखते हैं। अस्तु, मनुष्य और वनमानुस का निकट संवध अव अच्छी तरह सिद्ध हो गया है।

इस वात के प्रमाण में अव कोई संदेह नहीं रह गया है कि मनुष्य और वनमानुस के शरीर का ढाँचा एक ही है।

दोनो की ठटरियो में वे ही २०० हड्डियाँ समान क्रम से बैठाई हैं. दोनो मे उन्ही ३०० पेशियो की क्रिया से गति उत्पन्न होती है, दोनो की त्वचा पर रोएँ होते हैं, दोनो के मस्तिष्क उन्ही संवेदनात्मक तंतुग्रंथियो के योग से बने हुए होते हैं, वही चार कोठो का हृदय दोनो मे रक्तसंचार का स्पंदन उत्पन्न करता है, दोनो के मुँह मे ३२ दाँत उसी क्रम से होते है. दोनो मे पाचन ष्ठीवन ग्रथि, * यकृद्ग्रथि और क्लोमग्रंथि † की क्रिया से होता है, उन्ही जननेन्द्रियो से दोनो के वंश की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि डीलडौल तथा अवयवो की छोटाई बड़ाई मे दोनो मे कुछ भेद देखा जाता है पर इस प्रकार का भेद तो मनुष्यो की ही समुन्नत और वर्बर जातियो के बीच परस्पर देखा जाता है, यहाँ तक कि एक ही जाति के मनुष्यो मे भी कुछ न कुछ भेद होता है। कोई दो मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जिनके ओठ, आँख, नाक कान आदि बराबर और एक से हो। और जाने दीजिए दो भाइयो की आकृति मे इतना भेद होता है कि जल्दी विश्वास नही होता कि वे एक ही मातापिता से उत्पन्न है। पर इन व्यक्तिगत भेदो से रचना के मूल सादृश्य के विषय मे कोई व्याघात नही होता।

---

* अत्यत सूक्ष्म छोटे छोटे दाने जिनसे थूक निकलता है।

† आमाशय की त्वचा पर के सूक्ष्म दाने जिनसे पित्त के समान एक प्रकार का अम्ल रस निकलता है जो भोजन के साथ मिलकर उसे पचाता है।

तीसरा प्रकरण।

हमारा जीवन।

उन्नीसवीं शताब्दी मे ही मनुष्यजीवनसंबंधी ज्ञान को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ है। सजीव व्यापारो का अन्वेषण करनेवाली विद्या को शरीरव्यापारविज्ञान * कहते हैं। यह विद्या आजकल अत्यंत उन्नत अवस्था को पहुँच गई है। प्राचीन काल मे ही लोगो का ध्यान सजीव व्यापारो की ओर गया था। वे जीवो का इच्छानुसार हिलना डोलना, हृदय का धडकना, साँस खींचना, बोलना आदि देखकर इन व्यापारो का कारण जानना चाहते थे। अत्यत प्राचीन काल मे तो सजीव पदार्थों के हिलने डोलने मे और निर्जीव पदार्थों के हिलने डोलने मे विभेद करना सहज नही था। नदियो का बहना, हवा का चलना, लपट का भभकना आदि जंतुओ के चलने फिरने के समान ही जान पड़ते थे। अत. इन निर्जीव पदार्थों मे भी उस काल के लोगो को एक स्वतंत्र जीव मानना पडता था। पर पीछे जीवन के संबध मे जिज्ञासा आरंभ हुई।

---

* अगविच्छेदशास्त्र केवल भीतरी अवयवो के स्थान और उनकी बनावट बतलाता है पर शरीरव्यापारविज्ञान उनके व्यापारो और कार्य्यों की व्यवस्था प्रकट करता है। अगविच्छेदशास्त्र केवल यही बतलावेगा कि अमुक अवयव शरीर के अमुक स्थान पर होता है और इस आकार का होता है, वह यह न बतलावेगा कि वह अवयव क्या काम करता है।

१७०० वर्ष हुए कि यूरप मे पहले पहल यूनानी हकीम गैलन का ध्यान शरीरव्यापार के कुछ तत्त्वों की ओर गया। इन तत्त्वो का पता उसने जीते हुए कुत्तो, बंदरो आदि को चीर-फाड़कर लगाया था। पर जीवित जंतुओ का चीरना फाडना एक अत्यंत निर्दयता का काम समझा जाता था। परंतु बिना इस प्रकार की चीरफाड किए शरीर के व्यापारो का रहस्य नहीं खुल सकता।

सच पूछिए तो १६वीं शताब्दी मे ही शरीर के व्यापारो की ठीक ठीक जाँच यूरप मे कुछ डाक्टरो के द्वारा आरम्भ हुई। सन् १६२८ में हार्वे ने अपने रक्तसंचारसंबधी आविष्कार का विवरण प्रकाशित कर के यह दिखलाया कि हृदय एक प्रकार का पंप या नल है जो अचेतनरूप से क्षण क्षण पर अपनी पेशियो के आकुंचन द्वारा निरंतर लाल रंग के खून की धारा धमनियो के मार्ग से छोड़ा करता है। जीवधारियो के प्रसवविधान के संबंध मे उसने जो अन्वेषण किए वे भी बड़े काम के थे। पहले पहल उसीने इस नियम का प्रतिपादन किया कि "प्रत्येक जीवधारी गर्भांड से उत्पन्न होता है।" १८वीं शताब्दी के अंत मे हालर ने शरीरव्यापारसंबंधी विद्या को चिकित्सा-शास्त्र से अलग कर के स्वतंत्र वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया, पर उसने संवेदनात्मक चेतनव्यापारो के लिये एक विशेष 'संविद् शक्ति' का प्रतिपादन किया जिससे 'अभौतिक शक्ति' माननेवालों को भी सहारा मिल गया। १९वीं शताब्दी के मध्य तक शरीरव्यापारविज्ञान मे यही सिद्धांत ग्राह्य रहा कि जीवो के कुछ व्यापार तो भौतिक और रासायनिक कारणो से

होते हैं पर कुछ ऐसे है जो एक विशेष शक्ति द्वारा होते है। यह शक्ति समस्त भूतो से परे तथा द्रव्य की भौतिक और रासायनिक क्रिया से सर्वथा स्वतंत्र मानी गई है। यह स्वयंप्रकाश शक्ति जड़ पदार्थों मे नही होती और भूतो को अपने आधार पर चलाती है। संवेदनसूत्रो की वेदनात्मक क्रिया, चेतना, उत्पत्ति, वृद्धि आदि ऐसी बाते थीं जिनके लिये भौतिक और रासायनिक कारण बतलाना अत्यत कठिन था। इस अभौतिक शक्ति का व्यापार उद्देश्यात्मक * माना गया जिससे दर्शन-शास्त्र मे उद्देश्यवाद का समर्थन हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक काट ने भी कह दिया कि यद्यपि सिद्धांतदृष्टि से सृष्टि के व्यापारो का भौतिक कारण बतलाने मे बुद्धि मे अपार सामर्थ्य है पर जीवधारियो के चेतनव्यापारो का भौतिक कारण बतलाना वास्तव मे उसकी सामर्थ्य के बाहर है, अत हमे उनका एक ऐसा कारण मानना ही पड़ता है जो उद्देश्यात्मक अर्थात् भूतो से परे है। फिर तो उद्देश्यवाद एक प्रकार निर्विवाद सा मान लिया गया। बात स्वाभाविक ही थी, क्योकि शरीर के भीतर रक्तसचार आदि व्यापारो का भौतिक और पाचन आदि क्रियाओ का रासायनिक हेतु तो बतलाया जा सकता था पर पेशियो और संवेदन सूत्रो की अद्भुत क्रियाओ तथा अंत करण (मन) की विलक्षण वृत्तियो का कोई सामाधानकारक हेतु निरूपित नही हो सकता था। इसी प्रकार किसी प्राणी मे भिन्न

---

* यह सिद्धात कि सृष्टि के व्यापार उद्देश्य रखनेवाली एक चेतन शक्ति के विधान द्वारा होते हैं।

भिन्न शक्तियो की जो उपयुक्त योजना देखी जाती है उसे भी भूतो के द्वारा संपन्न नही मानते बनता था। ऐसी दशा मे शरीरव्यापारसंबधी विज्ञान मे भी पूरी द्वैतभावना स्थापित हुई। निरिंद्रिय जड़ प्रकृति और सेद्रिय सजीव सृष्टि के बीच, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विधानो के बीच, शरीर और आत्मा के बीच, द्रव्यशक्ति और जीवशक्ति के बीच पूरा पूरा प्रभेद माना गया। १९वी शताब्दी के आरंभ मे भूतातिरिक्त-शक्तिवाद की जड़ शरीरव्यापारविज्ञानो मे अच्छी तरह जम गई।

१७ वी शताब्दी के मध्य मे प्रसिद्ध फरासीसी तत्त्ववेत्ता डेकार्ट ने हार्वे के रक्त-संचार संबंधी सिद्धांत को लेकर यह प्रतिपादित किया कि और जंतुओ की भांति मनुष्य का शरीर भी एक कल है और उसका संचालन भी उन्ही भौतिक नियमो के अनुसार होता है जिनके अनुसार मनुष्य की बनाई हुई मशीन का होता है। साथ ही उसने मनुष्य मे एक भूतातीत आत्मा * का होना भी बतलाया और कहा कि स्वय अपने ही व्यापारो का जो अनुभव आत्मा को होता है (अर्थात् विचार) केवल वही ससार मे ऐसी वस्तु है जिसका हमे निश्चयात्मक बोध होता है। उसका सूत्र है कि—"मै विचार करता हूँ इस लिए मै हूँ।" † पर यह द्वैत सिद्धांत रखते हुए भी उसने शरीर व्यापार-सबंधी हमारे भौतिक ज्ञान को बहुत कुछ बढ़ाया। डेकार्ट के बाद ही एक वैज्ञानिक के

* पशुओ मे इस प्रकार की आत्मा डेकार्ट नहीं मानता था

† Cogito ergo sum ' (I think therefore I am)

प्राणियो के अंग-संचालन को शुद्ध भौतिक नियमो का अनुसारी सिद्ध किया और दूसरे ने पाचन और श्वास * की क्रिया का रासायनिक विधान बतलाया। पर उनके युक्तिवाद पर उस समय लोगो ने ध्यान न दिया। शक्तिवाद का प्रचार बढ़ता ही गया। उसका पूर्ण रूप से खंडन तब हुआ जब भिन्न भिन्न जीवो के शरीरव्यापारो का मिलान करनेवाले विज्ञान का उदय हुआ।

तारतम्यिक शरीरव्यापारविज्ञान का प्रादुर्भाव १९ वी शताब्दी मे हुआ। बार्लिन विश्वविद्यालय के जोस मूलर नामक उद्भट प्राणिवेत्ता ने ही पहले पहल इस विषय को अपने हाथ मे लिया और २५ वर्ष तक लगातार परिश्रम किया। उसने मनुष्य से लेकर कीटपतंग तक सारे जीवो के अंगो और शरीरव्यापारो को लेकर दार्शनिक रीति से मिलान किया और इस प्रकार वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से प्राणतत्त्व संबंधी ज्ञान मे बहुत बढ़ गया। मूलर भी अपने सहयोगी शरीरविज्ञानियो के समान शक्तिवादी ही रहा। पर उसके हाथ मे पड़ कर शक्तिवाद का कुछ रूप ही और हो गया। उसने जीवो के समस्त व्यापारो के भौतिक हेतु-निरूपण का प्रयत्न किया। उसने जिस शक्ति का रूपांतर से प्रतिपादन किया वह प्रकृति के भौतिक और रासायनिक नियमो से परे नही थी, उससे सर्वथा बद्ध थी। उसने इन्द्रियो और मन

---

* जिससे शरीर के भीतर ऑक्सिजन या प्राणवायु जाती और कारबन निकलता है।

की क्रियाओ का उसी प्रकार भौतिक हेतु बतलाने का प्रयत्न किया जिस प्रकार पेशियो की क्रियाओ का। मूलर की सफलता का कारण यह था कि वह सदा अत्यंत निम्न कोटि के जीवो के प्राणव्यापार को लेकर चलता और क्रम क्रम से उन्नत जीवो की ओर अपनी अनुसंधान-परंपरा को बढ़ाता हुआ मनुष्य तक ले जाता था। मूलर की मृत्यु के पीछे सन् १८५८ मे उसके विस्तृत विषय के कई विभाग हो गए—मानव और तार-तम्यिक अंगविच्छेद-परीक्षा, चिकित्सासंबंधी अंगविच्छेद परीक्षा, शरीरव्यापार विज्ञान और विकाशक्रम का इतिहास।

मूलर के अनेक शिष्यो मे से थिउडरश्वान को सब से अधिक सफलता हुई। १८३८ मे जब प्रसिद्ध उद्भिद्‌विज्ञान-वेत्ता थिउडर श्वान (Theodor Schwann) ने घटक को सारे पौधो का संयोयक अवयव बतलाया और सिद्ध किया कि पौधो का सारा तंतुजाल इन्ही घटको के योग से बना है, मूलर ने इस आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने प्राणियो के शरीरतंतुओ को भी इसी प्रकार के योग से संघटित सिद्ध करना चाहा। पर यह कठिन कार्य उसके शिष्य श्वान ने किया। इस प्रकार घटक सिद्धांत की नीवॅ पड़ी जिसका महत्त्व अंगविच्छेद शास्त्र और शरीरव्यापार विज्ञान मे दिन पर दिन स्वीकृत होता गया। इसके अतिरिक्त ब्रुक (Earnst Bruke) और कालिकर (Albert Kolliker) नामक मूलर के दो दूसरे शिष्यो ने यह दिखलाया कि विश्लेषण करने पर जीवो की समस्त क्रियाएँ शरीरतंतु को संघटित करनेवाले

इन्हीं सूक्ष्म घटको की क्रियाएँ ठहरती हैं। व्रुक ने इन घटकों को 'मूलजीव' कहा और बतलाया कि समवाय रूप से ये ही जीवविधान के कारण है। कालिकर ने सिद्ध किया कि जीव-धारियो का गर्भाण्ड एक शुद्ध घटक मात्र है।

'घटकात्मक शरीरव्यापार विज्ञान' की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा सन् १८८९ मे जरमनी के वरवर्न (Max Verwarn) द्वारा हुई। उसने अनेक परीक्षाओ के उपरांत दिखलाया कि मेरा उपस्थित किया हुआ घटकात्मा * संबंधी सिद्धांत एक-घटकात्मक अणुजीवो के पर्य्यालोचन से पूर्ण रूप से प्रति-पादित हो जाता है और इन अणुजीवो के चेतन व्यापारो का मेल जड़सृष्टि की रासायनिक क्रियाओ से मिल जाता है। उसने बतलाया कि मूलर की मिलानवाली प्रणाली तथा घटक की सूक्ष्म आलोचना द्वारा ही हम तत्त्व को यथार्थ रूप मे समझ सकते है।

इस घटकवाद से चिकित्साशास्त्र को भी बहुत लाभ पहुँचा। मूलर के एक दूसरे शिष्य विरशो (Virchow) ने रुग्ण घटको का स्वस्थ घटको से मिलान करके रुग्ण होने पर उनकी दशा के उन सूक्ष्म परिवर्त्तनो को दिखलाया जो उन विस्तृत परिवर्त्तनो के मूल स्वरूप होते है, जिनसे रोग या मृत्यु होती है। उसने यह सिद्ध कर दिया कि रोग किसी अलौकिक कारण से नहीं होते बल्कि भौतिक और रासाय-निक परिवर्त्तनो के ही कारण होते हैं।

---

* सन् १८६६ में हेकल ने यह सिद्धात उपस्थित किया था।

आधुनिक जंतुविभागविद्या के अंतर्गत जितने जीव है सब मे स्तनपायी जीव प्रधान है। मनुष्य इसी स्तन्यवर्ग के अंतर्गत है अत: उसमे वे सब लक्षण होने चाहिए जो और स्तन्य जीवो मे होते है। मनुष्यो मे भी रक्तसंचालन तथा श्वास क्रिया उसी प्रकार और ठीक उन्ही नियमो के अनुसार होती है जिस प्रकार और जिन नियमो के अनुसार और स्तन्य जीवो मे। ये दोनो क्रियाएँ हृत्कोश और फुप्फुस (फेफड़े) की विशेष बनावट के अनुसार होती है। केवल स्तन्य जीवो में रक्त हृदय के बाएँ कोठे से धमनी की वाम कंडरा (शाखा) मे प्रवाहित होता है। पक्षियो मे यह रक्त धमनी की दक्षिण कंडरा से होकर और सरीसृपो मे दोनो कंडराओ से होकर जाता है। दूध पिलानेवाले जीवो के रक्त मे और दूसरे रीढ़वाले जीवो के रक्त से यह विशेषता पाई जाती है कि उसके सूक्ष्म घटको के मध्य मे गुठली (Nucleus) नहीं होती। इसी वर्ग के जीवो की श्वासक्रिया अंतरपट (diaphragm) के योग से होती है क्योकि इन्ही जीवो मे उदराशय और वक्षआशय के बीच यह परदा होता है। बड़ी भारी विशेषता तो माता के स्तनो मे दूध उत्पन्न होने और बच्चो को पालने के ढंग की है। दूध की बड़ी भारी ममता होती है इसीसे स्तन्य जीवो मे शिशु पर माता का बहुत अधिक स्नेह देखा गया है।

स्तन्य जीवो मे बनमानुस ही मनुष्य से सब से अधिक समानता रखता है, अत: उसमे वे सब लक्षण मिलते हैं जो मनुष्य मे पाए जाते हैं। सब लोग देखते हैं कि किस प्रकार

वनमानुसों की रहनसहन, स्वभाव, समझ, बच्चो के पालने पोसने का ढंग आदि मनुष्य के से होते है। शरीर व्यापार विज्ञान ने और बातो मे भी सादृश्य दिखलाया है जो साधारण दृष्टि से देखने मे नही आता—हृपिड की क्रिया मे, स्तनो के विभाग में, दांपत्य विधान मे। दोनो के स्त्री-पुरुष-धर्म मिलते जुलते है। वनमानुसो की बहुत सी ऐसी जातियाँ होती है जिनकी मादा के गर्भाशय से उसी प्रकार सामायिक रक्तश्राव होता है जिस प्रकार स्त्रियो को मासिकधर्म होता है। बनमानुस की मादा मे दूध उसी प्रकार उतरता है जिस प्रकार स्त्रियो मे। दूध पिलाने का ढंग भी एक ही सा है।

सब से बढ़ कर ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि मिलान करने पर वनमानुसो की बोली मनुष्य की वर्णात्मक वाणी के विकाश की आदिम अवस्था प्रतीत होती है। एक प्रकार का वनमानुस होता है जो कुछ कुछ मनुष्यो की तरह गाता और सुर निकालता है। कोई निष्पक्ष भाषातत्वविद् इस बात को मानने मे आगापीछा न करेगा कि मनुष्य की विचार-व्यंजक विशद वाणी पूर्वज वनमानुसो की अपूर्ण बोली से क्रमश: धीरे धीरे निकली है।

चौथा प्रकरण।

गर्भविधान।

तारतम्यिक गर्भविधान विद्या की उत्पत्ति भी उन्नीसवीं शताब्दी मे ही हुई है। माता के गर्भ मे बच्चा किस प्रकार बनता है? गर्भांड से जीव कैसे उत्पन्न हो जाते है? बीज से वृक्ष कैसे पैदा होता है? इन प्रश्नो पर हजारो वर्षों से लोग विचार करते आए पर इनका ठीक ठीक समाधान तभी हुआ जब गर्भविज्ञानविद् बेयर (Baer) ने गर्भविधान के रहस्यो को जानने का उचित मार्ग दिखलाया। बेयर से तीस वर्ष पीछे डारविन ने अपने उत्पत्तिसिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा गर्भविधान के परिज्ञान की प्रणाली एक प्रकार से स्थिर कर दी। यहा पर मै गर्भसंबंधी मुख्य मुख्य सिद्धांतो पर ही विचार करूँगा। इस विचार के पहले गर्भवृद्धि-संबंधी प्राचीन सिद्धांतो का उल्लेख आवश्यक है।

प्राचीनो का विचार था कि जीवो के गर्भांड मे पूरा शरीर अपने संपूर्ण अवयवो के साथ पहले से निहित रहता है, पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि दिखाई नही पड़ सकता, *

---

* सुश्रुत ने कई ऋषियो के नाम देकर लिखा है कि कोई कहता है कि गर्भ मे पहले बच्चे का सिर पैदा होता है, कोई कहता है कि हृदय, कोई कहता है नाभि, कोई कहता है हाथ पाँव,

अत. गर्भ का सारा विकाश या वृद्धि अंतर्मुख अंगों का प्रस्तार मात्र है। इसी भ्रांत विचार का नाम 'पूर्वकृत' या 'युगपत्' सिद्धांत है। सन १७५९ मे उल्फ नामक एक नवयुवक डाक्टर ने अनेक श्रमसाध्य और कठिन परीक्षाओ के उपरांत इस सिद्धांत का पूर्णरूप से खंडन किया। अडे को यदि हम देखे तो उसके भीतर बच्चे या उसके अंगो का कोई चिन्ह पहले नही रहता, केवल एक छोटा चक्र जरदी के सिरे पर होता है। यह बीजचक्र धीरे धीरे वर्तुलाकार हो जाता और फिर फूट कर चार झिल्लियो के रूप मे हो जाता है। ये ही चार झिल्लियॉ शरीर के चार प्रधान विभागो के मूल रूप है। चार विभाग या विधान ये है—ऊपर संवेदनविधान जिससे समस्त संवेदनात्मक और चेतन व्यापार होते है, नीचे पेशी विधान, फिर नाड़ीघट * (हृदय नाड़ी आदि) विधान, और अन्त्रविधान। इससे प्रकट है कि गर्भविकाश पूरे अंगो का प्रस्तार मात्र नही है वल्कि नवीन रचनाओ का क्रम है। इस सिद्धांत का नाम "नवविधान"वाद है। ५० वर्ष तक

सुभूति गौतम कहते है धड जिससे सब अग सन्निबद्ध रहते है, पर धन्वंतरि जी कहते है कि इनमे से किसी का मत ठीक नही, बच्चो के सब अग एक साथ ही पैदा हो जाते है, वॉस के कल्ले या आम के फल के समान—

"सर्वांगप्रत्यगानि युगपत्संभवतीत्याह धन्वतरि ,
गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते, वशाकुरवच्चूतफलवच्च ॥"

—सुश्रुत, शरीरस्थान।

* जिससे रक्तसचार होता है और जिसके अतर्गत रक्तवाहिनी नलियॉ और हृदय हैं।

उल्फ की गर्भी बात की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया क्यो कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक हालर बराबर उसका विरोध करता गया। हालर ने कहा—"गर्भ मे नए विधानो की योजना नही होती। प्राणी के अग एक दूसरे के आगे पीछे नही बनते, सब एक साथ बने बनाए रहते है।"

जब सन १८०६ मे ओकेन (जरमनी) ने उल्फ की कही हुई बातो का फिर से पता लगाया तब कई जरमन वैज्ञानिक गर्भविज्ञानी ठीक ठीक अन्वेषण मे तत्पर हुए। उनमे सब से अधिक सफलता बेयर को हुई। उसने अपने ग्रंथ मे गर्भविधान की रचना का पूरा ब्योरा दिखाया और बहुत से नए सद्विचारों का समावेश किया। मनुष्य तथा और दूसरे स्तन्य जीवों के गर्भ का आकार प्रकार दिखा कर उसने बिना रीढ़ वाले क्षुद्र जतुओं के उत्पत्तिक्रम पर भी विचार किया जो सर्वथा भिन्न होता है। रीढ़वाले उन्नत जीवो के गर्भबीज के गोलचक्र मे पत्ते के आकार के जो दो पटल दिखाई देते है बेयर के कथनानुसार पहले वे दो और पटलो मे विभक्त होते है। ये चार पटल पीछे चार कोशो के रूप मे हो जाते है जिनसे शरीर के ये चार विभाग सूचित होते है—त्वक्कोश, पेशी कोश, नाड़ीघट-कोश और लालाकोश।

बेयर का सब से बड़ा काम मनुष्य गर्भाड का पता लगाना था। पहले लोग समझते थे कि गर्भाशय में डिभकोश ❀ के

❀ ये डिंभकोश गर्भाशय के दोनों ओर होते हैं और पुरुष के अड-कोश के स्थान पर है। जिस प्रकार पुरुष के अडकोश के भीतर शुक्रकीटाणु रहते है उसी प्रकार इन कोशों के भीतर गर्भांड या रज: कीटाणु रहते हैं।

भीतर जो वहुत से सूक्ष्म संपुट दिखाई पड़ते हैं वे ही गर्भांड है। १८२७ मे वेयर ने पहले पहल सिद्ध किया कि वास्तविक गर्भांड इन संपुटो के भीतर बंद रहते है और वहुत छोटे–एक इंच के १२०वे भाग के बरावर–होते है और विदु के समान दिखाई देते है। उसने दिखलाया कि स्तन्य जीवो के इस सूक्ष्म गर्भांड से पहले एक वीजवर्तुल या कलल * उत्पन्न होता है। यह वीजवर्तुल एक खोखला गोला होता है जिसके भीतर एक प्रकार का रस भरा रहता है। इस गोले का जो झिल्लीदार आवरण होता है उसे बीजकला कहते है। वेयर के इस वीजकला सिद्धांत की स्थापना के दस वर्ष पीछे सन् १८३८ मे जब घटकवाद स्वीकृत हुआ तब अनेक प्रकार के नए प्रश्न उठे। गर्भांड तथा वीजकला का उन घटको और तंतुओ से क्या संबंध है जिनसे मनुष्य का पूर्ण शरीर बना है। इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर रेमक और कालिकर नामक मूलर के दो शिष्यो ने दिया। उन्होने दिखलाया कि गर्भांड पहले एक सूक्ष्म घटक मात्र रहता है। गर्भित होने पर उत्त-रोत्तर विभाग द्वारा उसी से जो अनेक बीजवर्तुल या कलल होते जाते है वे भी शुद्ध घटक ही है। उनके शहतूत की तरह के गुच्छे से पहले कलाओ या झिल्लियो की रचना होती है, फिर विभेद या कार्यविभाग-क्रम द्वारा भिन्न भिन्न अवयवो की सृष्टि होती है। कालिकर ने यह भी स्पष्ट किया कि नरजीवो

---

* हारीत ने लिखा है कि प्रथम दिन शुक्र शोणित के सयोग से जिस सूक्ष्म पिंड की सृष्टि होती है उसे कलल कहते है।

का वीर्य्य भी सूक्ष्म घटको ही का समूह है। उसमे आलपीन के आकार के जो अत्यंत सूक्ष्म वीर्यकीटाणु होते है वे रोईदार घटक मात्र है जैसा कि मैने १८६६ मे स्पंज (मुरदा वादल) की वीजकलाओ को लेकर निर्धारित किया था। इस प्रकार जीवोत्पत्ति के दोनो उपादानो–पुरुष के वीर्य्य कीटाणु और स्त्री के गर्भांड—का सामंजस्य घटकसिद्धांत के साथ पूर्णतया हो गया। इस आविष्कार का दार्शनिक महत्व कुछ दिनो पीछे स्वीकार किया गया।

गर्भसंवंधी विधानो की जॉच पहले पक्षियो के अंडो की परीक्षा द्वारा की गई थी। इस प्रकार की परीक्षा द्वारा हम देख सकते है कि किस प्रकार तीन सप्ताहो के वीच एक के उपरांत दूसरी रचना उत्तरोत्तर होती जाती है। इस परीक्षा द्वारा वेयर को केवल इतना ही पता लगा कि वीजकलाओ की आकृति और अवयवो की सृष्टि का क्रम सव मेरुदंड (रीढ़वाले) जीवो मे एक ही प्रकार का है,पर विना रीढ़वाले असख्य कीटो की गर्भवृद्धि दूसरे ही ढंग से होती है,अधिकांश मे वीज कलाओ के कोई चिन्ह दिखाई ही नही पड़ते। थोड़े दिन पीछे कुछ विना रीढ़वाले कीटो मे भी–जैसे कई प्रकार के सामुद्रिक घोघो और उद्भिदाकार कृमियो मे–ये वीज कलाएँ पाई गई। १८८६ मे कोवालुस्की (Kowalewsky) नामक एक वैज्ञानिक ने एक बड़ी भारी वात का पता लगाया। उसने दिखलाया कि सव से क्षुद्र रीढ़वाले जंतु अकरोटी मत्स्य *

---

* जाक के आकार की चार पॉच अगुल लवी एक प्रकार की मछली जो समुद्र के किनारे वालू मे विल वनाकर रहती है। इसे कहीं

का गर्भस्फुरण भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार विना रीढ़-वाले जीवो का। मै उन दिनो स्पंजो, मूँगो तथा उद्भिदाकार कृमियो के गर्भ-स्फुरण विधान का अन्वेपण कर रहा था। जब मैं ने इन समस्त जवो मे इन दो वीजकलाओ को पाया तब मै ने निश्चित किया कि गर्भ का यह लक्षण समस्त जीवधारियो मे पाया जाता है। विशेप ध्यान देने की वात मुझे यह प्रतीत हुई कि स्पजो और छत्रक * आदि कुछ उद्भिदाकार कृमियो का शरीर बहुत दिनो तक—और किसी किसी का तो आयुभर-घटको के दो पटल या कलाओ के रूप मे ही रहता है। इन सब परीक्षाओ के आधार पर मै ने १८७२ मे गर्भस्फुरण संबधी अपना द्विकलघट सिद्धांत प्रकाशित किया जिसकी मुख्य मुख्य वाते ये है.—

(१) समस्त जीवसृष्टि दो भिन्न वर्गो मे विभक्त है—एक-घटक आदिम अणुजीव ‡ तथा अनेकघटक समष्टिजीव। अणु जीव का सारा शरीर आयुभर एक घटक के रूप मे, अथवा घटको के

रीढ नही होती, नरम लचीली हड्डिया का तरुणास्थिदड होता है। कपाल भी इसे नहीं होता। इसी से यह अकरोटी (acrania) वर्ग मे समझी जाती है।

* यह जतु खुमी या छत्रक के आकार का होता है पर इसमे एक मध्यदड के स्थान पर किनारे की ओर कई पैर सूत की तरह के होते हैं जिनसे वह समुद्र पर तैरा करता है।

‡ ये अणुजीव जल मे पाए जाते है और अच्छे खुर्दवीन के द्वारा ही देखे जा सकते हैं।

ऐसे समूह के रूप मे जो तंतुओं द्वारा संबद्ध वा एकीकृत नहीं होता, रहता है। समष्टिजीव का शरीर आरंभ में तो एक-घटक रहता है पर पीछे अनेक ऐसे घटको का हो जाता है जो मिल कर जाल के रूप मे गुछ जाते है।

(२) अतः इन दोनो जीववर्गों के प्रजनन और गर्भ-स्फुरण का क्रम भी अत्यंत भिन्न होता है। अणुजीवो की वृद्धि अमैथुनीय विधान से अर्थात् विभागपरंपरा * द्वारा होती है; उनमे गर्भकीटाणु और वीर्यकीटाणु नही होते। पर समष्टि जीवो मे पुरुप और स्त्री का भेद होता है। उनका प्रजनन मैथुनाविधान से अर्थात् गर्भकीटाणु से होता है जो शुक्रकीटाणु द्वारा गार्भित होता है।

(३) अतः वास्तविक बीजकलाएँ और उनसे बने हुए तंतु केवल समष्टिजीवो में होते है, अणुजीवो मे नही।

(४) सारे समष्टिजीवो के गर्भकाल मे पहले ये ही दो कलाएँ (आवरण या झिल्लियाँ) प्रकट होती है। ऊपरी कला से बाहरी त्वक् और संवेदनसूत्रो का विधान होता है, भीतरी कला से अंत्र तथा और और अवयव उत्पन्न होते है।

(५) गर्भाशय मे स्थित बीज को, जो गर्भित रजःकीटाणु

---

* ऐसे जीवो की वंशवृद्धि विभाग द्वारा इस प्रकार होती है। एक अणुजीव जब बढते बढते बहुत बढ जाता है तब उसकी गुठली के दो विभाग हो जाते हैं। क्रमशः उस जीव का शरीर मध्य भाग से पतला पड़ने लगता है और अंत मे उस जीव के दो विभाग हो जाते है।

से पहले पहल निकलता है और दो कलाओं के रूप मे ही होता है, द्विकलघट कह सकते हैं। इसका आकार कटोरे का सा होता है। आरंभ मे इसके भीतर केवल वह खोखला स्थान होता है जिसे आदिम जठराशय कह सकते है और वाहर की ओर एक छिद्र होता है जिसे आदिम मुख कह सकते है। समष्टि जीवो के शरीर के ये ही सब से पहले उत्पन्न होने वाले अवयव है। ऊपर लिखी दोनो कलाएँ या झिल्लियाँ ही आदि ततुजाल हैं, उन्ही से पीछे और सब अवयवो की उत्पत्ति होती है।

(६) सारे समष्टि जीवो के गर्भविधान मे इस द्विकलघट को पाकर मैंने सिद्धांत निकाला कि सारे समष्टि जीव आदि मे मूल द्विकलात्मक जीवो से उत्पन्न हुए है और मूल जीवो का यह रूप अव तक वड़े जीवो की गर्भावस्था मे पितृपरंपरा के धर्मानुसार पाया जाता है।

(७) वर्गोत्पत्तिविपयक इस सिद्धांत की पुष्टि इस वात से पूर्णतया होती है कि अव भी ऐसे द्विकलात्मक जीव पाए जाते हैं। यही तक नही है, ऐसे भी जीव (स्पंज, मूँगा आदि सामुद्रिक जीव) मिलते है जिनकी वनावट इन द्विकलात्मक जीवो से थोड़ी ही उन्नत होती है।

(८) द्विकलघट से घटकजाल के रूप मे संयोजित होकर वढ़नेवाले समष्टि जीवो के भी दो प्रधान भेद है—एक तो आदिम रूप के जिनके शरीर मे कोई आशय, मलद्वार, और रक्त नही होता (स्पंज आदि समुद्र के जीव इसी प्रकार के है), दूसरे उनसे पीछे के और उन्नत शरीरवाले जिनके शरीर मे आशय, मलद्वार और रक्त होता है। इन्ही

के अंतर्गत सारे कृमि, कीट आदि हैं जिनसे क्रमशः शंबुक (सीप, घोंघे आदि), रज्जुदंडजीव (जिनके शरीर में रीढ़ के स्थान पर रज्जु के आकार का एक लचीला दंड होता है) और मेरुदंड जीव हुए है।

यही मेरे द्विकलघटसिद्धांत का सारांश है। पहले तो इसका चारो ओर से विरोध किया गया पर अब इसे प्राय सब वैज्ञानिको ने स्वीकार कर लिया है। अब देखना यह है कि इससे क्या क्या परिणाम निकलते है। बीज के इस विकाशक्रम की ओर ध्यान देने से सृष्टि के बीच मनुष्य की क्या स्थिति निर्धारित होती है ?

और जंतुओ के समान मनुष्य का रज.कीटाणु भी एक सादा घटक मात्र है। यह सूक्ष्म घटकांड (जिसका व्यास १/१२० इच के लगभग होता है) आकार प्रकार मे वैसा ही होता है जैसा कि और सजीव डिंभप्रसव करनेवाले जीवो का। कलल की सूक्ष्म गोली एक झलझलाती हुई झिल्ली से आवृत रहती है। यहाँ तक कि कललरस की इस गोली के भीतर जो बीजाशय या गुठली होती है वह भी उतनी ही बड़ी और वैसी ही होती है जितनी बड़ी और जैसी और स्तन्य जीवो मे। यही बात पुरुष के शुक्रकीटाणु के विषय मे भी कही जा सकती है। ये शुक्रकीटाणु भी सूत (या आल-पीन) के आकार के रोएँदार 'अत्यंत सूक्ष्म घटक मात्र है जो वीर्य्य के एक बूंद मे न मालूम कितने लाख होते है। इन दोनो मैथुनीय घटकों की उत्पत्ति समस्त स्तन्य जीवो में समान रूप से अर्थात् मूल बीजकलाओं से होती है।

प्रत्येक मनुष्य क्या समष्टिजीव मात्र के जीवन मे वह क्षण बड़े महत्त्व का है जिसमे उसका व्यक्तिगत अस्तित्त्व आरंभ होता है। यह वही क्षण है जिसमे उसके माता पिता के पुरुप और स्त्री घटक (रज कीटाणु और शुक्रकीटाणु) परस्पर मिल कर एक घटक हो जाते है। इस प्रकार उत्पन्न नया घटक मूलघट कहलाता है जिसके उत्तरोत्तर विभागक्रम द्वारा ऊपर कही हुई दोनों कलाओ या झिल्लियो को बनानेवाले घटक उत्पन्न होते है। इसी मूलघट की स्थापना अर्थात् गर्भाधान के साथ ही व्यक्ति का अस्तित्व आरंभ होता है। गर्भाधान की इस प्रक्रिया से कई बातो का निरूपण होता है। पहली बात तो यह कि मनुष्य अपनी शारीरिक और मानसिक विशेपताएँ अपने मातापिता से प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि जो नूतन व्यक्ति इसप्रकार उद्भूत होता है वह 'अमरत्व' का दावा नही कर सकता।

गर्भाधान के विधानो का ठीक ठीक ब्योरा १८७५ मे प्राप्त हुआ जब कि हर्टविग ने अपने अनुसंधान का फल प्रकाशित किया। हर्टविग ने पता लगाया कि गर्भाधान से सबसे पहली बात पुरुप और स्त्री घटक का (रज कीटाणु और वीर्य्यकीटाणु का) तथा उनकी गुठलियो का परस्पर मिल कर एक हो जाना है। गर्भाशय के भीतर बहुत से शुक्रकीटाणु गर्भकीटाणु को घेरते है, पर उनमे से केवल एक ही उसके भीतर गुठली तक घुसता है। घुसने पर दोनो की गुठलियाँ एक अद्भुत शक्ति द्वारा, जिसे घ्राण से मिलती जुलती एक प्रकार की रासायनिक प्रवृत्ति समझना चाहिए, एक दूसरे की

ओर वेग से आकर्पित होकर मिल जाती है। इस प्रकार पुरुष और स्त्री गुठलियो के संवेदनात्मक अनुभव द्वारा, जो एक प्रकार के रासायनिक प्रेमाकर्षण (erotic chemico tropism) के अनुसार होता है, एक नवीन अंकुरघटक की सृष्टि होती है जिसमे माता और पिता दोनो के गुणो का समावेश होता है।

मूलघट के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा वीजकलाओ की रचना, द्विकलघट की उत्पत्ति तथा और और अंगो के विधान का क्रम मनुष्यो और दूसरे उन्नत स्तन्य जीवो मे एक ही सा है। स्तन्यजीवो के अन्तर्गत जरायुज जीवो मे जो विशेषताएँ है वे गर्भ की प्रारंभिक अवस्था मे नही दिखाई पड़ती। द्विकलघट के उपरात रज्जुदंड की उत्पत्ति समस्त मेरुदंड जीवो के भ्रूण मे एक ही प्रकार से होती है। भ्रूणपिड की लंबाई के वल वीचोवीच एक पृष्ठरज्जु (Dorsal cord) प्रकट होती है। फिर इस पृष्ठरज्जु के ऊपर तो वाहरी कला (झिल्ली) से मज्जा निकल कर चढ़ने लगती है और नीचे आशय (आमाशय, अंत्र आदि) प्रकट होने लगते है। इसके अनंतर पृष्ठदंड के दोनो ओर (दाहिने और वाएँ) उसकी शाखाओ का विधान होता है और पेशीपटल के ढांचे वनते है जिनसे भिन्न भिन्न अवयवो की रचना आरंभ होती है। आशय के अग्रभाग अर्थात् गलप्रदेश मे गलफड़ो के दो छेद उसी प्रकार के उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के मछलियो मे होते है। मछ-लियो मे तो ये गलफड़े इसलिये होते है कि श्वास के लिए जो जल मुख के मार्ग से चला जाता है वह इनसे होकर वाहर निकल जाय। पर मनुष्य के भ्रूण मे इनका कोई

प्रयोजन नहीं होता। इनसे केवल यही बात सूचित होती है कि मनुष्य का विकाश भी इन जलचर पूर्वज जीवो मे ही क्रमश: हुआ है। इसीसे जलचर पूर्वजो का यह लक्षण मनुष्य मे अब तक गर्भावस्था मे देखा जाता है। कुछ काल पीछे ये गलफडे मनुष्य भ्रूण मे नही रह जाते, गायब हो जाते है। फिर तो इस मत्स्याकार गर्भपिड मे कपाल आदि की विशेषताऍ प्रकट होने लगती है, हाथ पैर के अंकुर निकलने लगते है और ऑख, कान आदि के चिह्न दिखाई पडने लगते है। इस अवस्था मे भी यदि मनुष्य भ्रूण को देखे तो उसमे और दूसरे मेरुदंड जीवो के भ्रूण मे कोई विभिन्नता नही दिखाई देती।

मेरुदंड जीवो की तीनो उन्नत जातियो (सरीसृप, पक्षी और स्तन्य) के भ्रूण झिल्लियो के कोश के भीतर रहते है जो जल से भरा रहता है। इस जल मे भ्रूण पड़ा रहता है और आघात आदि से बचा रहता है। इस जलमय कोश की व्यवस्था उस युग मे हुई होगी जिसमे जलस्थलचारी जीवो से स्थलचारी सरीसृप आदि के पूर्वज उत्पन्न हुए होगे। मछलियो और मेढको के भ्रूण इस प्रकार की झिल्ली से रक्षित नही रहते।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य जरायुज जीव है। पर जरायु भी एकबारगी नही उत्पन्न हुआ है। पहले उत्पन्न होनेवाले निम्न कोटि के जरायुजो मे चक्रनालयुक्त पूर्ण जरायु का विधान नही होता। उनके गर्भपिड की सारी ऊपरी झिल्ली पर छेददार रोइयॉ सी उभरी होती है

जो गर्भाशय के त्वक् से कुछ लगी रहती हैं पर बहुत जल्दी अलग हो सकती हैं। ह्वेल आदि कुछ जलचर स्तन्य तथा घोड़े, ऊँट आदि कुछ खुरपाद इसी प्रकार के अपूर्ण जरायुज जंतु हैं। पूर्ण जरायुजो मे माता के गर्भाशय की झिल्ली से लगा हुआ जरायु का भाग एक चक्र के आकार का होता है जिसके पृष्ठ भाग से एक नाल भ्रूणपिंड तक गया रहता है। यह जरायुचक्र माता के गर्भाशय की दीवार से बिल्कुल मिला रहता है जिससे प्रसव होने पर इस चक्र के साथ गर्भाशय का कुछ भाग भी उचड़ आता है और कुछ रक्तस्राव भी होता है। मनुष्य के गर्भपिंड मे भी एकबारगी पूर्ण जरायु का विधान नहीं हो जाता, पहले वह अपूर्ण रूप मे रहता है (जैसा कि अपूर्ण जरायुजो मे) फिर चक्र और नाल के रूप मे आता है। हाथी का जरायु वलय के आकार का होता है। चूहे, गिलहरी, खरहे आदि कुतरनेवाले जतुओ तथा घूस, बनमानुस और मनुष्य का जरायु चक्राकार होता है।

गर्भ की प्रारंभिक अवस्था मे मनुष्य के भ्रूण और दूसरे मेरुदंड जीवो के भ्रूण के बीच यह सादृश्य ध्यान देने योग्य है। इस सादृश्य का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि समस्त जीव एक ही आदिम जीव से उत्पन्न हुए है—जीवो के भिन्न भिन्न रूप एक ही आदि पुरातनरूप से प्रकट हुए है। गर्भ की विशेष अवस्था मे हम मनुष्य, बंदर, कुत्ते, सूअर, भेड़ इत्यादि के भ्रूणो मे कोई विभेद नहीं कर सकते। इसका कारण एक मूल से उत्पत्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? विकासवाद के विरोधी बहुत दिनों तक मनुष्य-भ्रूण के

जरायु आदि मे कुछ विशेषताएँ बतला कर मनुष्य की स्वतंत्र उत्पत्ति का राग अलापते रहे। पर १८९० मे सेलेनका ने ओरंग नामक बनमानुस के भ्रूण मे भी उन विशेषताओ को स्पष्ट दिखा दिया। फिर तो हक्सले का यह सिद्धांत और भी पुष्ट हो गया कि "मनुष्य और उन्नत बनमानुसो के बीच उतना भेद नही है जितना नराकार बनमानुसो और निम्न श्रेणी के बंदरो के बीच।"

शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से जो मनुष्य के गर्भस्फुरण क्रम को देखेगा और उसे दूसरे स्तन्य जीवो के गर्भविधान से मिला-वेगा उसे मनुष्य की उत्पत्ति को समझने मे बहुत सहायता मिलेगी।

———

पाँचवाँ प्रकरण ।

मनुष्य की उत्पत्ति का इतिहास ।

जीवविज्ञान की सब शाखाओ मे जीववर्गोत्पत्ति विद्या सब से पीछे निकली है। इसका प्रादुर्भाव भी गर्भविकाश विद्या के पीछे हुआ है और इसके मार्ग मे कठिनाइयाँ भी बहुत अधिक पड़ी है। गर्भविकाश विद्या का उद्देश्य उन विधानो का परिज्ञान प्राप्त करना है जिनके अनुसार उद्भिद् या जन्तु का शरीर मूलाड से क्रमश उत्पन्न होता है, पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या इस बात का निर्णय करती है कि जीवो के भिन्न भिन्न वर्ग किस प्रकार उत्पन्न हुए।

गर्भविकाश विद्या मे तो बहुत सी बातो को प्रत्यक्ष देखने का सुबीता है, क्योकि वे बाते हमारे सामने बराबर होती रहती है। गर्भांड से स्फुरित होने पर भ्रूण मे एक एक दिन और एक एक घड़ी मे उत्तरोत्तर क्या क्या परिवर्त्तन होते हैं यह देखा जा सकता है। पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या का विषय परोक्ष होने के कारण अधिक कठिन है। उन क्रियाविधानो के धीरे धीरे होने मे जिनके द्वारा उद्भिदो और प्राणियो के नए नए वर्गो की क्रमश सृष्टि होती है लाखो वर्ष लगते है। उनके बहुत ही थोड़े अंश का प्रत्यक्ष हो सकता है। उन क्रियाविधानो का परिज्ञान हमे अनुमान और चिंतन द्वारा तथा गर्भविधान और निःशेष जीवो के भूगर्भस्थित अस्थि-पंजरो की परीक्षा द्वारा ही विशेषतः होता है। प्राणियो के

विकाश के इस वैज्ञानिक निरूपण का पहले वहुत विरोध किया गया क्योकि वह देवकथाओ और धर्मसंबंधी प्रवादो के प्रतिकूल था। प्राचीन समय मे सृष्टि की उत्पत्ति के संवंध मे वहुत सी कथाएँ भिन्न भिन्न मतो मे प्रचालित थीं। योरप में ईसाई धर्म का डंका वजता था। ईसाई धर्माचार्य ही ऐसे विषयो के निर्णय के अनन्य अधिकारी माने जाते थे। अतः उनका निर्णय इंजील मे जो सृष्टि की उत्पत्ति की कथा लिखी है उसीके अनुसार होता था। यहाँ तक कि सन् १७३५ मे जव लिने नामक स्वेडन के एक वैज्ञानिक ने ससार के जीवो का वर्गविभाग किया तव वह भी वाइविल का सिद्धात मानते हुए चला। वड़ा भारी काम उसने यह किया कि प्राणिविज्ञान मे वर्ग-विवरण के लिए दोहरे नामो की प्रथा चलाई। प्रत्येक जंतु के लिए एक तो उसने भेदसूचक या योनिसूचक नाम रक्खा, फिर उसके आदि मे उसका वर्गसूचक नाम रख दिया। जैसे श्वन् शब्द के अंतर्गत उसने कुत्ता, भेडिया, गीदड़, लोमड़ी आदि जंतु लिए, फिर इन जंतुओ को इस प्रकार अलग अलग वैज्ञानिक नाम दिए-श्वकुक्कुर (पालतू कुत्ता), श्ववृक (भेडिया), श्वजंबुक (गीदड़), श्वलोमशा (लोमड़ी)। श्वन् एक वर्ग का नाम हुआ कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़ आदि अलग अलग विशिष्ट योनियो के नाम हुए। दोहरे नामकरण की यह प्रथा इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि इसका प्रचार वैज्ञानिक मंडली मे हो गया।

लिने ने जीवो का वर्ग-विभाग तो किया पर वह भिन्न भिन्न वर्गों के अवांतर भेदो या विशिष्ट उत्पत्तिक्रम आदि का

कुछ विवेचन न कर सका। बाइबिल की बात को मानते हुए उसने यही कहा कि संसार मे उतनी ही योनियाँ दिखाई पड़ती है जितनी के ढाँचे सृष्टि के आरंभ मे ईश्वर ने गढ़े थे।* इस भ्रांत विचार के कारण जीववर्गोत्पत्ति के परिज्ञान के लिए कोई वैज्ञानिक प्रयत्न बहुत दिनो तक नहीं हो सका। लिने को केवल उन्हीं जीवो और उद्भिदो का परिज्ञान था जो इस समय पृथ्वी पर मिलते है। उसे उन जीवो की कुछ भी खबर न थी जो किसी समय इस पृथ्वी पर रहते थे पर अब जिनके केवल अस्थिपंजर भूगर्भ के नीचे दबे मिलते है।

इन पंजरावशिष्ट जीवो की खबर पहले पहल सन १८१२ के लगभग क्यूवियर ने दी। उसने इन अप्राप्य जीवो के संबंध मे एक पुस्तक लिखी जिसमे इनका सविस्तर विवरण दिया। उसने दिखलाया कि इस पृथ्वी पर भिन्न भिन्न कल्पो मे भिन्न भिन्न जीव परंपरानुसार (एक दूसरे के पीछे) रहे है। पर क्यूवियर ने भी लिने के अनुसार भिन्न भिन्न योनियो को अचल और स्थायी माना इससे उसे पृथ्वी के इतिहास मे संहार और नवीन सृष्टि अनेक बार होने की कल्पना करनी पड़ी। उसने बतलाया कि प्रत्येक प्रलय के समय सब जीवो का नाश हो जाता है और फिर से सब नए जीवो की सृष्टि होती है। क्यूवियर का यह 'प्रलयवाद'

---

* पुराणो मे तो इन योनियों की गिनती चौरासी लाख बतला दी गई है। उनके अनुसार इतनी ही योनियाँ सृष्टि के आरभ मे उत्पन्न की गई थीं, इतनी ही बराबर रही हैं और इतनी ही रहेगी।

नितांत भ्रांतिमूलक होने पर भी तब तक सर्वमान्य रहा जब तक डारविन का समय आ कर नहीं उपस्थित हुआ।

पर विविध योनियो को स्थिर और अपरिणामशील तथा उनकी सृष्टि को दैवी विधान मानने से विचारशील पुरुषो को संतोष नही हुआ। कुछ लोग सृष्टि-विधान के प्राकृतिक हेतुओ के निरूपण की चेष्टा मे लगे रहे। इनमे मुख्य था जर्मनी का प्रसिद्ध कवि और तत्ववेत्ता गेटे जिसने भिन्न भिन्न जीवो के शरीरो की परीक्षा करके समस्त जीव-धारियों के परस्पर घनिष्ठ संबंध और एक मूल से उत्पत्ति का निश्चय किया। सन् १७९० मे उसने सब प्रकार के पौधो को एक आदिम पत्ते से निकला हुआ बतलाया। मेरुदंड और कपाल की परीक्षा द्वारा उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य से लेकर समस्त मेरुदंड जीवो के कपाल एक विशेष क्रम से बैठाई हुई हड्डियो के समूह से बने है और ये हड्डियाँ मेरुदंड या रीढ के विकार या रूपांतर मात्र है। इस सूक्ष्म पंजरपरीक्षा के आधार पर उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि सारे जीवो की उत्पत्ति एक ही मूल से है। उसने दिख-लाया कि मनुष्य का पंजर भी उसी ढाँचे पर बना है जिस ढाँचे पर और रीढ़वाले जीवो का। उस मूल ढाँचे मे पीछे से परिवर्त्तन या विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाली दो प्रधान विधा-यिनी शक्तियाँ हैं—एक तो शरीर के भीतर की अंतर्मुख शक्ति जो केंद्र की ओर ले जाती है और नियति या विशिष्टता की ओर प्रवृत्त करती है और दूसरी बहिर्मुख शक्ति जो केंद्र के बाहर ले जाती है और रूपांतर अर्थात्

बाह्यावस्थानुरूप परिवर्तन की ओर प्रवृत्त करती है। पहली शक्ति वही है जिसे आजकल पैतृक प्रवृत्ति ❀ कहते है और दूसरी वह है जो अब स्थिति–सामंजस्य × कहलाती है। गेटे के विचार यद्यपि अनेक प्रकार के प्रमाणो से पुष्ट नहीं हो पाए थे पर उनसे डारविन और लामार्क के सिद्धांतो का आभास पहले से मिल गया।

जीवो के क्रमश रूपांतरित होने का सिद्धांत पूर्णरूप से फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क द्वारा ही स्थापित हुआ। १८०२ मे उसने जीवो की परिवर्त्तनशीलता और रूपांतरविधान के संबंध मे अपने नवीन विचार प्रकट किए जिन्हे आगे चल कर उसने पूर्णरूप से स्थिर किया। पहले पहल उसीने जीव भेदो के स्थायित्वसंबंधी प्रवाद के विरुद्ध यह मत प्रकट किया कि योनि-भेद भी जाति, वर्ग, कुल आदि के समान बुद्धिकृत प्रत्याहार, या सापेक्ष भावना मात्र है। उसने निर्धारित किया कि सब योनियॉ (जीवभेद) परिवर्त्तन शील है और काल पाकर अपने से प्राचीन योनियो से उत्पन्न हुई है। जिन आदिम मूल जीवो से ये सब योनियॉ उत्पन्न

❀ पैतृक-प्रवृत्ति द्वारा जीवो का एक विशिष्ट ढॉचा वश परपरागत बराबर चला चलता है।

× स्थिति सामजस्य के द्वारा बाह्य अवस्था के अनुसार प्राणियो के अगों मे कुछ विभेद होता जाता है। जैसे मछली और मेढक के शरीर का भेद जो जल की स्थिति से जल और स्थल की उभयात्मक स्थिति मे आने के कारण हुआ है।

हुई हैं वे अत्यंत क्षुद्र और सादे जीव थे। सब से आदिम मूल जीव जड़ द्रव्य से उत्पन्न हुए थे। पैतृक प्रवृत्ति द्वारा ढाँचे का मूलरूप तो बराबर वंशपरंपरानुगत चला चलता है पर स्वभावपरिवर्त्तन और अवयवो के न्यूनाधिक प्रयोग-भेद द्वारा स्थिति-सामंजस्य जीवो मे बराबर फेरफार करता रहता है। हमारा यह मनुष्यशरीर भी इसी प्राकृतिक क्रिया के अनुसार बनमानुसो के शरीर से क्रमशः परिवर्त्तित होते होते बना है। सृष्टि के समस्त व्यापारो का—क्या बाह्य क्या मानसिक—प्रकृत-कारण लामार्क ने भौतिक और रासायनिक क्रियाओ को ही माना।

आदि ही से एक एक जीव की स्वतंत्र सृष्टि माननेवालो का भ्रम तो लामार्क ने अच्छी तरह दिखला दिया पर उसके सिद्धांतो का अच्छा प्रचार न हो सका। अधिकांश वैज्ञानिक उसका विरोध ही करते रहे। इस विषय मे पूर्ण सफलता आगे चल कर डारविन को हुई। उसने अपने समय के सब वैज्ञानिको से बढ़ कर काम किया। उसने अपने 'योनियो की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ के द्वारा विज्ञानक्षेत्र मे एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। उसके सिद्धांत से सृष्टिसंबंधी बहुत सी समस्याओ का समाधान हो गया। प्राणिविज्ञान के भिन्न भिन्न विभागो मे जिन जिन बातो का पता लगा था सब का सामंजस्य डारविन ने अपने उत्पत्ति सिद्धात मे किया। यही नही, उसने एक रूप के जीव से वंशपरंपराक्रम द्वारा दूसरे रूप के जीव मे परिणत होने का जो कारण "ग्रहण क्रिया" है उसका भी पता लगाया। उसने दिखाया कि जिस प्रकार मनुष्य कुछ

विशेषता रखनेवाले जंतुओं को चुन कर उनसे एक नए प्रकार की नसले पैदा करता है उसी प्रकार प्रकृति भी रक्षा के लिए ऐसे जीवो को चुन लेती है जिनमे स्थिति के अनुकूल अंग आदि मे विशेषता आ जाती है। इस प्रकार उसने प्राकृतिक "ग्रहण सिद्धांत" की स्थापना की। *

---

* इस सिद्धात का अभिप्राय यह है कि जिस स्थिति मे जो जीव पड़ जाते है उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते हैं तो रह सकते है अन्यथा नहीं, अतः जितने जीवो के अग आदि स्थिति के अनुकूल बन जाते है उतने रह जाते है, जिनके नहीं बनते वे नष्ट हो जाते है। अर्थात् प्रकृति इस प्रकार चुने हुए जीवो को रक्षा के लिए ग्रहण करती है। स्थिति के अनुकूल बनने की क्रिया के कारण ही जीवो के अगो मे भिन्नता आती है और भिन्न भिन्न रूप के जीव उत्पन्न होते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि स्थिति-परिवर्तन के अनुरूप किसी वर्ग के कुछ जीवो मे यदि औरो से कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है तो वह विशेषता पुश्त दर पुश्त चली चलती है। इस रीति से उस वर्ग मे एक नए ढॉचे के जतु का विकाश हो जाता है। जंतुव्यवसायी प्रायः ऐसा करते है कि किसी वर्ग के कुछ जतुओ मे कोई विलक्षणता देख कर उनको चुन लेते है, और उन्ही के जोडे लगाते है। फिर उन जोडो से जो जतु उत्पन्न होते है उनमे से भी उन्हे चुनते है जिनमे वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पुश्तो के पीछे एक नए ढॉचे का जतु ही उत्पन्न कर लेते है, जैसे जगली नीले (गोले) कबूतर से अनेक रंग और ढग के पालतू कबूतर बनाए गए है। यह तो हुआ मनुष्य

जीवविज्ञान में डारविन ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि जंतुओं और उद्भिदों की उत्पत्ति-परंपरा स्थिर कर दी जाय। किस प्रकार एक प्रकार के जीवों से उत्तरोत्तर अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि होती गई इसका क्रम निर्धारित कर दिया जाय। तदनुसार सन् १८६६ मे मैं ने इस विषय पर एक पुस्तक लिख कर इस बात का प्रयत्न किया। पहले एक विशिष्ट रूप के जीव को लेकर मैं ने यह दिखलाया कि किस प्रकार गर्भावस्था मे क्रमशः उसके विविध अंगो का स्फुरण होता है. फिर यह निर्धारित किया कि किस क्रम से सजीवसृष्टि मे उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न रूपों (योनियों) का विधान हुआ है। विकाश से पहले गर्भ का उत्तरोत्तर स्फुरण ही समझा जाता था। पर

का चुनाव या "कृत्रिम ग्रहण"। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे "प्राकृतिक ग्रहण" कहते हैं। दोनो मे अंतर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जंतुओ को चुनता है पर प्रकृति का यह चुनाव जीवों के लाभ के लिए होता है। प्रकृति उन्हीं जीवों को रखने के लिए चुनती या रहने देती है जिनमें स्थितिपरिवर्त्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते हैं। ह्वेल को लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओं का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जंतुओं से उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलों के पास रहते थे फिर क्रमशः ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीन पर रहना कठिन होता गया और स्थितिपरिवर्त्तन के अनुसार उनके अवयवों म फेरफार होता गया, यहाँ तक कि कुछ काल पीछे उनकी संतति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवों का विधान हो

मैंने यह स्थिर किया कि गर्भ के उत्तरोत्तर क्रमविधान के अनुसार ही जीववर्गों का भी उत्तरोत्तर क्रमविधान हुआ है। जिस क्रम से भ्रूण गर्भ के भीतर एक अणुजीव से एक रूप के उपरांत दूसरे रूप को प्राप्त होता हुआ पूरा सावयव जंतु हो जाता है उसी क्रम से एकघटक अणुजीव से भिन्न भिन्न रूपो के छोटे बड़े जीवो की उत्पत्ति होती गई है। अस्तु, दोनो प्रकार के विकाश समान नियमो के अनुसार होते हैं। गर्भविधान या व्यक्तिविकाश-विधान वर्गविकाश विधान की संक्षिप्त

गया, जैसे उनके अगले पैर मछली के परो के रूप के हो गए, यद्यपि उनमे हड्डियाँ वेही बनी रही जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैर मे होती है। कई प्रकार के ह्वेलो मे पिछली टाँगों का चिन्ह अब तक मिलता है।

जीवो के ढाँचो मे बहुत कुछ परिवर्तन तो अवयवो के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलने पर कुछ अवयवो का व्यवहार अधिक करना पडता है और कुछ का कम। जिनका व्यवहार अधिक होने लगता है वे वृद्धि को प्राप्त होने लगते है और जिनका कम होने लगता है वे दब जाते है। मनुष्य ही को लीजिए, जिसकी उत्पत्ति बनमानुसो से धीरे धीरे हुई है। ज्यो ज्यों दो पैरो के बल खडे होने और चलने की वृत्ति अधिक होती गई त्यो उसके पैर चिपटे, चौड़े और कुछ दृढ होते गए और ऍडी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। बनमानुस से मनुष्य मे ढाँचे आदि का बहुत अधिक विभेद नहीं हुआ। एक ही ओर बहुत अधिक विशेषता हुई, उसके अंत:करण या मस्तिष्क की वृद्धि अधिक हुई।

प्रकार गर्भविज्ञान और शरीरविज्ञान के आधार पर जो जीवोत्पत्ति–परंपरा (अर्थात् किस प्रकार के जीव से किस प्रकार के दूसरे जीव उत्पन्न हुए) निर्धारित हुई थी उसका सामंजस्य भूगर्भ मे मिली हुई अप्राप्य जीवो की ठठरियो से पूरा पूरा हो गया। संक्षेप मे यह परंपरा इस प्रकार है—

सब से पहले आदिम मत्स्य, फिर फेफड़ेवाले मत्स्य*, फिर जलस्थलचारी जंतु (मेढक आदि), सरीसृप, और स्तन्य जतु। स्तन्य जीवो मे अंडजस्तन्य सब से पहले हुए, फिर उन्ही से क्रमश. अजरायुज पिंडज (थैलीवाले) और जरायुज जंतु उत्पन्न हुए। इन जरायुजो से ही किंपुरुष निकले जिनमे पहले बंदर फिर वनमानुस उत्पन्न हुए। पतली नाकवाले वनमानुसो मे पहले पूँछवाले कुक्कुराकार वनमानुस हुए, फिर उनसे बिना पूँछवाले नराकार वनमानुस हुए। इन्ही नराकार वनमानुसो की किसी शाखा से वनमानुसो के से गूंगे मनुष्य उत्पन्न हुए और उनसे फिर बोलनेवाले मनुष्यो की उत्पत्ति हुई।

रीढ़वाले जंतुओ के उत्पत्तिक्रम की शृंखला तो इस प्रकार मिल जाती है पर उनसे पहले के बिना रीढ़वाले जंतुओ की शृंखला मिलाना कठिन है। भूगर्भ के भीतर उनका कोई चिह्न नही मिल सकता, इससे प्राग्जंतुविज्ञान ‡ कुछ सहायता नही

---

* इस प्रकार की मछलियाँ अब बहुत कम मिलती है; आस्ट्रे-लिया तथा दक्षिणी अमेरिका में दो तीन जातियाँ पाई जाती है। ये मछलियो और मेढक आदि जलस्थलचारी जतुओं के बीच में हैं।

‡ भूगर्भ के भीतर प्राचीन जतुओं के चिह्नो की खोज करनेवाली विद्या।

दे सकता। पर तारतम्यिक शरीर-विज्ञान और गर्भ-विज्ञान आदि के प्रमाणो पर हम इस शृंखला को मूल तक ले जा सकते हैं। हम यह दिखला सकते हैं कि मनुष्य का भ्रूण भी दूसरे रीढ़वाले जंतुओ के भ्रूण के समान कुछ दिनो तक सूत्र-दड अवस्था मे (जव कि रीढ़ के स्थान मे सूत की तरह लचीली शलाका होती है) रहता है। अंत जीव सृष्टि के नियमानुसार* हम निश्चित कर सकते है कि पूर्वकाल के जीव सूत्रदंड और द्विकलघट रूप के रहे है। सव से अधिक ध्यान देने की वात तो यह है कि मनुष्य का भ्रूण भी और प्राणियो के भ्रूण के समान आदि मे एक घटक के रूप का ही होता है। यह एक-घटक पिड इस वात का पता देता है कि जीवसृष्टि के आदिम काल मे एक घटक जीव ही रहे होगे।

हमारे तत्त्वाद्वैतवाद की स्थापना के लिए वस इतना ही देखना काफी है कि मनुष्ययोनि वनमानुसयोनि से निकली है जो क्षुद्र मेरुदंड जीवो की परंपरा से विकसित हुई है। हाल

---

* यह नियम कि गर्भ के वढ़ने का क्रम और एक जीव से दूसरे जीव के उत्पन्न या विकसित होने का क्रम एक ही है। गर्भ मे भ्रूण जिस एक मूलरूप से क्रमशः जिन दूसरे रूपो मे होता हुआ कुछ महीनों मे एक विशेष रूप का होकर तैयार हो जाता है सृष्टि मे भी उसी एक मूल रूप से उन्हीं दूसरे रूपों में होती हुई अनेक योनियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई है। अतर इतना ही है कि मछली से मनुष्य होने में तो करोड़ों वर्ष लगे होंगे पर मत्स्याकार गर्भपिंड से नराकार शिशु होने मे कुछ महीने ही लगते हैं।

मे जो भूगर्भस्थपंजर मिले है उनसे इस वनमानुसी सिद्धांत की पुष्टि अच्छी तरह हो गई है। जरायुज जंतुओ के जो मांसभक्षी खुरपाद और किंपुरुष आदि भिन्न भिन्न वर्ग है उनकी परंपरा की शृंखला आज कल पाए जानेवाले जंतुओ को देखने से ठीक ठीक नही मिलती थी। बीच मे बहुत से स्थान खाली पड़ते थे। भूगर्भ की छानबीन से अब इन स्थानो की पूर्ति हो गई है, बहुत से ऐसे जतुओ के पंजर मिले है जो उपर्युक्त भिन्न भिन्न वर्गो के मध्यवर्ती जंतु थे। इन जंतुओ को किसी एक वर्ग मे रखना कठिन जान पडता है क्योकि इनमे भिन्न भिन्न वर्गों के लक्षण मिले जुले है। पूर्ण जरायुज अवस्था मे आने के पहले की अवस्था के जो क्षुद्र जीव (पजर) मिले है उनमे खुरपाद, मांसभक्षी आदि वर्गों के लक्षण मिले जुले हैं। सब के पंजरो का ढॉचा एक सा है, सब ४४ दॉतवाले है, सब का आकार छोटा तथा मस्तिष्क की बनावट अपूर्ण है। तीस लाख वर्ष पहले ये जीव इस पृथ्वी पर थे। जीवसृष्टि क्रम के विचार से कहा जा सकता है कि ये पूर्व-जरायुज जतु भी थैली-वाले मासभक्षी क्षुद्र जंतुओ से जरायु की विशेषता उत्पन्न हो जाने के कारण निकले है।

भूगर्भ की छान बीन से सब से काम की चीजे जो मिली है वे किंपुरुषवर्ग के जंतुओ के पंजर है। पहले इन जतुओ के पंजर नही मिलते थे पर अब बहुत से मिल गए है। सब से महत्व का जो पजर मिला है वह जावाद्वीप के वानराकार मनुष्य का है जो १८९४ मे मिला था। उसे न हम ठीक ठीक वनमानुस का पंजर कह सकते है, न मनुष्य का।

जिस जीव का वह पंजर है वह वनमानुस और मनुष्य के बीच का जीव था। ऐसे जीव की खोज बहुत दिनो से थी। जावा के इस वानराकार नरपंजर के मिलने से मनुष्य का वनमानुस से क्रमशः निकलना 'प्राग्जंतुविज्ञान द्वारा भी उसी निश्चयात्मकता के साथ सिद्ध होगया जिस निश्चयात्मकता के साथ शरीरविज्ञान और गर्भविज्ञान द्वारा सिद्ध था। अस्तु, मनुष्यजाति की उत्पत्ति के संबंध मे तीनो प्रकार के प्रमाणो की एकरूपता हो गई।

छठाँ प्रकरण।

आत्मा का स्वरूप।

'आत्मा की क्रिया' या मानसिक व्यापार * से जिन व्यापारो का ग्रहण होता है वे जिस प्रकार अत्यंत कौतूहल-प्रद और महत्व के है उसी प्रकार अत्यंत जटिल और दुर्बोध है। प्रकृति का परिज्ञान आत्मा के व्यापार का ही अंग है और इस व्यापार की यथार्थता पर ही जंतुविज्ञान, सृष्टि-विज्ञान आदि अवलंबित हैं इस लिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान (आत्मा के व्यापारो का बोध करानेवाला शास्त्र) और सब विज्ञानों का आधारस्वरूप है या यो कहिए कि वह दर्शन, शरीरविज्ञान, जंतुविज्ञान, आदि का अंग ही है।

मनोविज्ञान के सिद्धांतो के वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन मे बड़ी भारी अड़चन यह पड़ती है वह विना शरीर के भीतरी अवयवो, विशेष कर मास्तिष्क, का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किए ठीक ठीक हो नही सकता। पर अधिकांश मनोविज्ञानी आत्मा के व्यापारो के विधायक अवयवो का बहुत कम परिज्ञान रखते

---

* यद्यपि न्याय और वैशेषिक ने आत्मा के जो लक्षण कहे हैं वे मानासिक व्यापारों से भिन्न नहीं जान पड़ते पर शेष दर्शनो के समान उन्होंने भी अतःकरण या मन से आत्मा को भिन्न माना है। हैकल ने आधिभौतिक दृष्टि से अतःकरण को ही आत्मा माना है।

हैं। इसीसे दर्शन और मनोविज्ञान में जितना मतभेद देखा जाता है उतना और किसी विज्ञान में नहीं।

जिसे आत्मा कहते हैं वह, मेरी समझ में, एक प्राकृतिक व्यापार मात्र है। अतः मनोविज्ञान को मैं आधिभौतिक शास्त्रों की ही एक शाखा और शरीरविज्ञान का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इस बात को जोर दे कर कहता हूँ कि इस विज्ञान के तत्त्वों का अन्वेषण भी उन्हीं प्रणालियों से हो सकता है जिन प्रणालियों से और विज्ञानों के तत्त्वों का हो सकता है। पहले तो हमें प्रत्यक्षानुभव से परीक्षा करनी चाहिए, फिर विकाशसिद्धांत का आरोप करना चाहिए। इसके उपरांत शुद्ध तर्क के आधार पर चिंतन करना चाहिए। मनोविज्ञान के संबंध में पहले द्वैत और तत्त्वाद्वैत सिद्धांतों का थोड़ा वर्णन कर देना आवश्यक है।

मानसिक व्यापार के संबंध में साधारण विश्वास, जिसका हमें खंडन करना है, यह है कि शरीर और आत्मा दो पृथक् पृथक् सत्ताएँ हैं। ये दोनों सत्ताएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् पृथक् रह सकती हैं, यह आवश्यक नहीं कि दोनों संयुक्त ही रहें। यह सावयव शरीर नश्वर और भौतिक है अर्थात् कललरस तथा उसके विकारों के रासायनिक योग से संघटित है। पर आत्मा अमर तथा भूतों से परे एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता है जिसके गूढ़ व्यापार बोधगम्य नहीं हैं। यह मत आध्यात्मिक पक्ष का है, इसके विरुद्ध जो मत है वह आधिभौतिक पक्ष का कहा जा सकता है। यह आध्यात्मिक मत सर्वातीतवादी है क्योंकि यह ऐसी शक्तियों का अस्तित्व मानता है जो बिना भौतिक

आश्रय के काम करती हैं। इसके अनुसार प्रकृति से परे और वाह्य एक अभौतिक आध्यात्मिक जगत् है जिसका हमे कुछ भी अनुभव नहीं और जिसका कुछ भी ज्ञान हम भौतिक परीक्षाओ द्वारा नही प्राप्त कर सकते।

यह 'आध्यात्मिक जगत्,' जो भूतात्मक जगत् से सर्वथा स्वतंत्र माना गया है और जिसके आधार पर द्वैतवाद खड़ा किया गया है, कवि-कल्पना मात्र है। यही वात 'आत्मा के अमरत्व' सबंधी विश्वास के विषय मे भी कही जा सकती है जिसकी असारता आगे चल कर दिखाई जायगी। यदि अध्यात्मवादियो के विश्वास का कोई दृढ़ आधार होता तो मानसिक व्यापार प्रकृति या परमतत्व के नियमाधीन न होते। दूसरी वात यह कि प्रकृति के नियम-बंधनो से मुक्त सत्ता यदि मानी जाय तो यह आवश्यक है कि वह सृष्टि के पिछले कल्प मे ही प्रकट हुई होगी जव कि मनुष्य आदि उन्नत जीवो का प्रादुर्भाव हो चुका होगा, क्योकि भूतो से परे आत्मा की धारणा मनुष्य आदि के मानसिक व्यापारो को देख कर ही हुई है।* आत्मा की इच्छा किसी प्रकार के नियमो से वद्ध नहीं है, सर्वथा स्वतंत्र है, यह मत भी भ्रांत है।

हमारे प्राकृतिक निरूपण के अनुसार आत्मा की क्रिया द्रव्यशक्ति-संभूत ऐसे व्यापारो का संघात है जो और

---

* भारतीय तत्त्ववेत्ताओ ने मनुष्य से लेकर कीटपतग तक मे आत्मा को माना है। डेकार्ट आदि कुछ पाश्चात्य दार्शनिको ने मनुष्य मे ही 'आत्मा' मानी है, पश्वादिको मे नहीं।

प्राकृतिक व्यापारो के समान एक विशिष्ट भौतिक आधार पर अवलंबित है । समस्त मनोव्यापारो के इस आधारभूत द्रव्य को हम मनोरस कहेगे । कारण यह है कि रासायनिक विश्लेषण के द्वारा परीक्षा करने पर यह उसी कोटि का द्रव्य ठहरता है जिस कोटि के द्रव्य कललरस * विशिष्ट कहलाते है । ये द्रव्य अंडसाररस † और अंगारक के रासायनिक संयोग से बनते है और समस्त चेतन व्यापारो के मूल है । उन्नत जीवो मे जिन्हे संवेदनसूत्रजाल और अनुभवात्मक इंद्रियॉ होती हैं उपर्युक्त मनोरस से ही संवेदनसूत्ररस अर्थात् संवेदनसूत्र निर्मित करनेवाली धातु का विधान होता है । इस विषय मे हमारा यह निरूपण भौतिक है । इसे प्राकृतिक और परीक्षात्मक भी कह सकते है क्योकि विज्ञान ने अभी तक किसी

---

* कललरस (Protoplasm) एक चिपचिपा कुछ दानेदार पदार्थ है जो जीवन का मूल द्रव्य समझा जाता है । प्राणियो और उद्भिदो के सूक्ष्म घटक इसीके होते है । आहारग्रहण, वृद्धि, स्वेच्छा गति, सवेदन आदि व्यापार इसमे पाए जाते हैं । रासायनिक विश्लेपण द्वारा यह कललरस आक्सिजन, हाइड्रोजिन, नाइट्रोजिन और कारबन के विलक्षण अण्वात्मक योग से सघटित पाया जाता है । जल और लवण का भी इसमे मेल रहता है । पर सयोजक मूल द्रव्यो को जान लेने पर भी मनुष्य कललरस नहीं बना सका है ।

† एक गाढा चिपचिपा पदार्थ जो अडों की जर्दी, जीवो के रक्त आदि मे रहता है । यह आक्सिजन, कारबन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन और कुछ गधक के मेल से बना होता है ।

ऐसी शक्ति का अस्तित्व नही प्रतिपादित किया है जिसका कुछ भौतिक आधार न हो। प्रकृति से परे किसी आध्यात्मिक जगत् का पता नहीं लगा है।

और प्राकृतिक व्यापारो के समान मनोव्यापार (या आत्म-व्यापार) भी परमतत्त्व या मूलप्रकृति के अटल और सर्वव्यापक नियम के अधीन है। एकघटक अणुजीवो तथा दूसरे अत्यंत क्षुद्र-कोटि के जीवो मे जो मनोव्यापार देखे जाते है—जैसे उनका संक्षोभ, उनकी संवेदना, उनकी प्रतिक्रिया*, उनकी आत्मरक्षण प्रवृत्ति इत्यादि—वे घटक के भीतर के कललरस की क्रिया के अनुसार अर्थात् वंशपरंपरा और स्थितिसामंजस्य द्वारा उपस्थित भौतिक और रासायनिक विकारो के अनुसार ही होते है। यही बात मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियो के उन्नत मनोव्यापारो के

---

* क्षुद्र जीवो के शरीर पर बाहरी संपर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ प्रवाह के रूप मे कललरस के अणुओ द्वारा भीतर कद्र मे पहुँचता है और वहाँ से प्रेरणा के रूप मे बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता है। वस्तु-सपर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत वा इच्छाकृत नही होती, केवल कललरस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, उँगली रखने से क्षुद्र कीटो का अग मोडना इत्यादि। चेतना-विशिष्ट मनुष्य आदि वड़े जीवो मे भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमे क्षोभ अतर्मुख सवेदनसूत्रो द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नही पहुँचता बीच ही से मेरुरज्जु या किसी और स्थान से पलट पडता है। ऑख के पास किसी वस्तु के आते ही पलकें आप से आप, विना इच्छा या संकल्प के, गिर पड़ती हैं।

संबंध मे भी कही जा सकती है क्यों कि वे ऊपर कहे हुए क्षुद्र मनोव्यापारों ही से क्रमशः स्फुरित हुए हैं। उनमे जो पूर्णता आई है वह अधिक मात्रा मे समन्वय होने के कारण— उन व्यापारो की विशेष संगति और योजना के कारण जो पहले पृथक् पृथक् थे। सारांश यह कि क्षुद्रकोटि के मनोव्यापारो और उन्नत कोटि के मनोव्यापारो मे—मनुष्यबुद्धि और पशुबुद्धि मे-केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नही।

प्रत्येक विज्ञान का पहला काम यह है कि जिस वस्तु के सबंध में उसे अन्वेषण करना हो उसकी स्पष्ट परिभाषा या व्याख्या कर ले। पर मनोविज्ञान के सबंध मे यह प्रारंभिक कार्य अत्यंत कठिन है। सब से विलक्षण बात यह है कि मनोविज्ञान के संबंध मे आज तक नए पुराने दार्शनिको ने जो मत प्रकट किए हैं उनका परस्पर विरोध देख कर बुद्धि चकरा जाती है। आत्मा क्या है ? इंद्रियानुभव और भावना में क्या अंतर है ? मन मे कोई बात किस प्रकार उपस्थित होती है ? बुद्धि और विचारो में क्या अंतर है। मनोवेगो (राग, द्वेष, क्रोध आदि) का वास्तविक रूप क्या है ? अंतःकरण की इन समस्त वृत्तियो का शरीर से क्या संबंध है ? इन अनेक प्रश्नो के तथा इसी प्रकार के और प्रश्नो के जो उत्तर दार्शनिको ने दिए हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं। यही नही, एक ही वैज्ञानिक वा दार्शनिक ने पहले कुछ और विचार प्रकट किया, पीछे और। इस प्रकार मनोविज्ञान भानमती का पिटारा बन गया है। जितनी गड़बड़ी इस विज्ञान मे दिखाई देती है उतनी और किसी मे नहीं।

कुछ दृष्टांत लीजिए। जरमनी के सब से प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने पहले अपनी युवावस्था मे यह स्थिर किया कि परोक्षवाद के तीन बड़े विषय—ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और आत्मा का अमरत्व—शुद्ध बुद्धि * के निरूपण से असिद्ध है। पीछे वृद्धावस्था मे उसीने यह कहा कि ये तीनो बाते व्यवसायात्मिका बुद्धि ‡ के स्वयंसिद्ध निरूपण है और अनिवार्य है। इसी प्रकार विरचो और रेमंड नामक प्रसिद्ध जरमन वैज्ञानिको ने पहले बहुत दिनो तक भूतातिरिक्त शक्ति, शरीर और आत्मा की पृथक् भावना आदि का घोर विरोध किया, पर पीछे उन्होने चेतना को भूतातिरिक्त व्यापार कहा।

अंत.करण की वृत्तियो की, विशेषत: चेतना की, परीक्षा के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानप्रणाली मे कुछ फेरफार करना पड़ता है। वैज्ञानिक अनुसंधान बहिर्मुख दृष्टि से होता है अर्थात् उसमे मन (अपने से भिन्न) बाह्य विषयो का निरीक्षण और विचार करता है। मनोव्यापारो के अनुसंधान मे हमे इस बहिर्मुख निरीक्षण के अतिरिक्त अंतर्मुख निरीक्षण या आत्मनिरीक्षण भी बहुत अधिक करना पड़ता है। इस स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण मे मन अपना ही अर्थात् अपने ही व्यापारो का चेतना के दर्पण मे निरीक्षण करता है। * अधि-

---

* Pure reason

‡ Practical reason

* काट आदि प्रत्यक्षवादी दार्शनिको ने स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण असभव कहा है। वे उसके सबंध मे यह बाधा उपस्थित करते हैं—"निरीक्षण करने के लिए तुम्हारी बुद्धि को अपनी क्रिया रोकनी

कांश मनोविज्ञानी केवल इसी आत्म-निश्चय या अहंकारवृत्ति का अनुसरण करके चले हैं, जैसे डेकार्ट ने स्पष्ट कहा है कि "मैं सोचता हूँ इस लिए मैं हूँ।" अत पहले इस आत्म-निरीक्षण प्रणाली पर कुछ विचार करके तव हम दूसरी (वाह्य-निरीक्षण प्रणाली) की व्याख्या करेगे।

इन दो तीन हजार वर्षों के वीच आत्मा के संवंध मे जितने सिद्धांत उपस्थित किए गए है सव इसी अंतर्मुख प्रणाली के अनुसार स्वानुभूति या आत्म-निरीक्षण के आधार पर। अपनी आत्मा मे जिस प्रकार के अनुभव हुए उनकी संगति और आलोचना द्वारा किए हुए निश्चय ही दार्शनिक प्रकट करते रहे हैं।

वात यह है कि मनोविज्ञान के एक प्रधान अंग का विचार, विशेष कर चेतना के धर्म आदि का निरूपण, केवल इसी एक

पडेगी और उसी क्रिया का तुम निरीक्षण किया चाहते हो। यदि तुम क्रिया रोकते हो तो निरीक्षण करने के लिए कोई वस्तु ही नही रह जाती"। यह वाधा तो आधिभौतिक मनोविज्ञानक्षेत्र की हुई जिसमे जैसे अतःकरण की और सव वृत्तियों का निरूपण होता है वैसेही चेतना का भी। भारतीय दार्शनिकों ने भी मन की युगपत् क्रिया असभव वतलाई है, अर्थात् मन एक ही समय एक साथ दो व्यापारो मे प्रवृत्त नही हो सकता, पर उन्होंने सव व्यापारो के द्रष्टा आत्मा को मन या अतःकरण से भिन्न माना है। अध्यात्म या पराविद्या के क्षेत्र मे भी आत्मबोध के संवध मे इस कठिनाई का सामना पड़ा है। चैतन्य वा आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा वा विषयी है अतः अपने ज्ञान के लिए उसे ज्ञेय, दृश्य वा विषय होना पड़ेगा। पर न विषयी विषय हो सकता है, न विषय

प्रणाली से हो सकता है। मस्तिष्क की यह वृत्ति (चेतना) विशेष रूप की है। इसके कारण जितने दार्शनिक भ्रम हुए है उतने और किसी वृत्ति के कारण नही। मन की इस स्वनिरीक्षण क्रिया को ही मनोविज्ञान के निरूपण का एक मात्र साधन समझना, जैसा कि वहुतेरे दार्शनिको ने किया है, वड़ी भारी भूल है। मन के वहुत से व्यापारो का, जैसे इंद्रियो और वाणी की क्रिया आदि का, निरूपण उसी रीति से हो सकता है जिस रीति से शरीर के और व्यापारो का, अर्थात् पहले तो भीतरी अवयवो की सूक्ष्म विश्लेषणपरीक्षा से और फिर उनके आश्रय से होनेवाले व्यापारो के जीवविज्ञानानुकूल निरीक्षण से। अत· विना इस प्रकार के वाह्य निरीक्षण के केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा निश्चित मनोव्यापार-संबंधिनी वाते पक्की नही

विषयी। शंकर स्वामी अपने भाष्य में कहते है—"युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरयो विषयविषयिनो स्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायाम् ..."।

हर्वर्ट स्पेसर ने भी यही कहा है—A thing cannot at the same instant be both subject and object of thought, and yet the Substance of Mind must be this before it can be known

शंकराचार्य ने तो यह कह कर उक्त वाघा दूर की कि चैतन्य वा आत्मा 'कूटस्थनित्यचैतन्यज्योति' है, वह ज्ञानस्वरूप है उसे ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं। पर हर्वर्ट स्पेसर आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ताओं ने इसी विरोध को लेकर आत्मा, परमात्मा आदि को अज्ञेय ठहराया और सशय की स्थिति में रहना ही ठीक समझा।

समझी जा सकतीं । पर बाह्यनिरीक्षण की पूर्णता के लिए शरीर-विज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र, शरीराणुविज्ञान*, गर्भविज्ञान और जीवविज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। मनोविज्ञान-वेत्ता कहलानेवालो मे से अधिकांश का नरतत्त्वशास्त्र†की आधार स्वरूपिणी इन विद्याओ मे कुछ भी प्रवेश नहीं होता। अतः वे अपनी आत्मा के गुण धर्म की विवेचना करने के भी अयोग्य है। एक और बात ध्यान मे रखने की यह है कि इन मनोविज्ञान-वेत्ताओ का अंत करण एक सभ्यजाति के उन्नत अंतःकरण का नमूना है जो अनेक पूर्ववर्त्ती अवस्थाओ मे वंशपरंपराक्रम से होता हुआ वर्त्तमान उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ है। अतः उसके गुण धर्म ठीक ठीक समझने के लिए असंख्य क्षुद्र कोटि के पूर्वरूपो का विचार आवश्यक है। यह मै मानता हूॅ कि आत्मनिरीक्षण प्रणाली परम आवश्यक है, पर साथ ही और दूसरी प्रणालियो (बाह्यनिरीक्षण आदि) की सहायता भी निरंतर अपेक्षित है ※।

आधुनिक काल मे ज्यो ज्यो मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया और भिन्न भिन्न विज्ञानो की अनुसंधानप्रणाली पूर्णता को पहुॅचती गई त्यो त्यो यह इच्छा बढ़ती गई कि उन विज्ञानो के निरूपण बिलकुल ठीक ठीक नपे तुले हो, उनमे रत्ती भर

---

* Histology

† Anthropology

※ जो लोग समझते हैं कि ऑख मूॅद कर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनो काल की बाते सूझने लगती है उन्हे इस पर ध्यान देना चाहिए।

का भी बल न पड़े, अर्थात् व्यापारो का निरीक्षण जहाँ तक हो सके प्रत्यक्षानुभव के रूप मे हो और जो नियम निरूपित किए जायँ वे जहाँ तक हो सके ठीक ठीक और स्पष्ट हो जैसे कि गणित के होते है। पर इस प्रकार का नपा तुला ठीक ठीक निरूपण कुछ थोड़े से शास्त्रो मे ही सभव है, विशेषत: उन विद्याओ मे जिनमे परिमेय (गिनती या माप के योग्य) परिमाण का विचार होता है, जैसे गणित मे तथा ज्योतिष, कलाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, और रसायनशास्त्र के बहुत से अशो मे। इसीसे ये सब विद्याएँ "ठीक नपी तुली विद्याएँ" कहलाती है। पर समस्त भौतिक विद्याओं को बिलकुल ठीक और नपी तुली समझ कर उन्हे इतिहास, तर्क, आचारशास्त्र आदि से सर्वथा भिन्न कोटि मे रखना भूल है। भौतिक विज्ञान का बहुत सा अंश ऐसा है जिसकी बातो को हम इतिहास की बातो से अधिक ठीक और नपी तुली नही कह सकते। यही प्राणिविज्ञान और उससे सबद्ध मनोविज्ञान के सबंध मे भी कहा जा सकता है। जब कि मनोविज्ञान शरीरविज्ञान का ही एक अंग है तब उसका निरूपण भी उसी प्रणाली से होना चाहिए जिस प्रणाली से शरीरविज्ञान का होता है। अस्तु, मनोविज्ञान मे पहले तो हमे प्रत्यक्षानुभव प्रणाली का अनुसरण कर के जहाँ तक हो सके इंद्रिय, संवेदनसूत्र, मस्तिष्क आदि की क्रियाओ का निरीक्षण और परीक्षा करनी चाहिए, उसके पीछे फिर मन के व्यापारो का आत्मनिरीक्षण करके उनके नियमो को तर्क द्वारा स्थिर करना चाहिए। पर यह समझ रखना चाहिए कि इस प्रकार के

नियम गणित के नियमों के समान ठीक ठीक नाप तौल के साथ सर्वत्र नहीं स्थिर किए जा सकते। शरीरविज्ञान में केवल इंद्रियों के व्यापारों का निरूपण गणित की रीति से कुछ हो सकता है, मस्तिष्क के और व्यापारों का नहीं।

प्राणिविज्ञान के एक छोटे से अंग का गणित की रीति से कुछ प्रतिपादन हो सका है और उसका नाम मनोभूत-विज्ञान (Psycho-Physics) रक्खा गया है। इस विज्ञान के प्रतिष्ठाता फेक्नर और वेवर नामक वैज्ञानिकों ने पहले यह पता लगाया कि सब प्रकार के इंद्रियानुभव बाहरी विषय-संपर्क की उत्तेजना पर निर्भर है और जिस हिसाब से विषय-सपर्क की उत्तेजना घटती या बढ़ती है उसी हिसाब से इंद्रिय-संवेदन भी घटता या बढ़ता है। उन्होंने स्थिर किया कि कम से कम इतनी मात्रा की उत्तेजना होगी तभी इंद्रियसंवेदन होगा, और प्राप्त उत्तेजना में इतनी मात्रा का अंतर पड़ेगा तब संवेदन में कुछ अंतर जान पड़ेगा। दर्शन, श्रवण, स्पर्श (दबाव) संवेदनों के विषय में यह निर्दिष्ट नियम है कि उनमें अंतर उत्तेजना के संबंध के अंतर के हिसाब से पड़ता है। अस्तु, फेक्नर ने अपने मनोभूतविज्ञान का एक प्रधान नियम स्थिर किया कि संवेदना की वृद्धि संख्योत्तर क्रम (जैसे २,४,६,८,१०) से होती है और उत्तेजना की गुणोत्तर क्रम से (जैसे २,४,८,१६, ३२) *। पर

---

* मान लीजिए कि आँख पर पहले एक दरजे का प्रकाश पड़ा फिर तुरंत १०० दरजे का अर्थात् उससे सौ गुना प्रकाश पड़ा और

फेक्नर के ये भौतिक निरूपण सर्वांश में स्वीकृत नही हुए है। मनोभूत-विज्ञान से जैसी सफलता की आशा की गई थी वैसी नहीं हुई। वह आगे नहीं बढ़ सका। उसका विस्तार बहुत ही थोड़ा है। उससे इतना अवश्य सिद्ध हुआ है कि कम से कम आत्मा के एक व्यापार पर भौतिक नियम घटाए जा सकते हैं। पर कहना यही पड़ता है कि मनोव्यापारो को नापने तौलने का प्रयत्न निष्फल हुआ है, उससे कुछ विशेष परिणाम नहीं निकला है। विज्ञान का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि सर्वत्र भौतिक नियमो का परिपालन दिखलाया जाय, पर यह सर्वत्र साध्य नही है। अतः जीवसृष्टि, मनोव्यापार आदि के संबध में तारतम्यिक

हमे एक विशेष अतर जान पड़ा। अब यदि एक दरजे के स्थान पर २ दरजे का प्रकाश पहले पड़े तो फिर २०० दरजे का प्रकाश पडने से, अर्थात् दो का सौ गुना प्रकाश पड़ने से, उतना ही अतर जान पडेगा। इसी प्रकार ३ और ३०० मे वही अतर जान पड़ेगा। तात्पर्य्य यह कि पहली उत्तेजना जितनी गुनी अधिक होगी दूसरी के भी उतनी ही गुनी अधिक होने से उतना ही अंतर जान पडेगा। १५ रत्ती का बोझ यदि हाथ पर (हाथ स्थिर और किसी वस्तु के आधार पर रहे) रक्खा जाय तो फिर उस पर एक रत्ती और रखने से बोझ मे कुछ अतर न जान पडेगा। जब पॉच रत्ती और रक्खा जायगा तब जान पड़ेगा। अब यदि पहले ३० रत्ती का बोझ रक्खा जाय तो फिर पॉच रत्ती और रखने से अंतर न जान पडेगा, दस रत्ती और रखने से जान पड़ेगा। गुरुत्व और शब्द-सवेदना में ३-४ का अतर पड़ने से भेद मालूम होता है, पेशी के तनाव में १५-१६, दृष्टि मे १००-१०१ का।

(परंपरा मिलान करने की) और गर्भविधान-निरीक्षण प्रणाली ही विशेष उपयोगी है।

मनुष्य और दूसरे उन्नत जंतुओं (जैसे कुत्ते, बंदर आदि) के मनोव्यापारो मे जो विलक्षण सादृश्य है वह सब पर प्रकट है। प्राचीन दार्शनिक मनुष्य की आत्मा और पशु की आत्मा मे कोई 'वस्तुभेद' नही समझते थे, केवल मात्राभेद समझते थे। ईसाई मत के कारण योरप मे लोग मनुष्य की अमर आत्मा और पशु की नश्वर आत्मा मे भेद मानने लगे। इस भेद पर डेकार्ट आदि द्वैतवादी दार्शनिको ने और भी लोगो का विश्वास जमा दिया। डेकार्ट (सन् १६४३) कहता था कि केवल मनुष्य ही को वास्तविक आत्मा है, मनुष्य ही मे संवेदन और स्वतंत्र इच्छा प्रयत्न आदि होते है। पशु केवल जड़ मशीन के तुल्य है, उनमे किसी प्रकार की संवेदना या इच्छा प्रयत्न आदि नही *। डेकार्ट के पीछे योरप मे बहुत दिनो तक लोगो की यही धारणा रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग मे जीवसृष्टिविज्ञान और शरीरविज्ञान की उन्नति के साथ पशुओ के मनोव्यापारो की ओर भी तत्ववेत्ताओ का ध्यान गया। मूलर ने अपने शरीर विज्ञान के गूढ़ अन्वेषणो द्वारा पशुबुद्धि-परीक्षा का मार्ग सुगम कर दिया। डारविन के पीछे उसके विकाशसिद्धांत का प्रयोग मनोविज्ञान के क्षेत्र मे भी किया गया।

---

* न्याय और वैशेषिक ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि को आत्मा का लिंग या लक्षण माना है।

वुंट जरमनी के सब से बड़े मनोविज्ञानवेत्ता है। और दार्शनिको से उनमे यह विशेषता है कि उन्हे प्राणिविज्ञान, अगविच्छेदशास्त्र और शरीरव्यापार-विज्ञान का भी पूरा पूरा अभ्यास है। उन्होने भौतिक विज्ञान और रसायन के नियमो का बहुत कुछ प्रयोग शरीरविज्ञान और उससे संबद्ध मनोविज्ञान के क्षेत्र मे करके दिखाया है। १८६३ मे उन्होने अपना "मानव और पाशव मनोविज्ञान पर व्याख्यान" प्रकाशित किया और सिद्ध किया कि मुख्य मुख्य मनोव्यापार "अचेतन आत्मा" से होते हैं। वुंट ने (मस्तिष्क के) उन पुरजो को दिखाया जो आत्मा के अचेतन पट पर वाह्य विषय-संपर्क से उत्पन्न उत्तेजना के प्रभावो को अंकित करते है। सब से बड़ा काम वुंट ने यह किया कि उन्होने वेगसंबंधी भौतिक नियम पहले पहल मनोव्यापारो के क्षेत्र मे घटाए और मनस्तत्त्व के प्रतिपादन मे शरीरगत विद्युद्विधान की बहुत सी बातो का प्रयोग किया।

तीस वर्ष पीछे (१८९२ मे) वुंट ने जब अपने ग्रंथ का दूसरा परिवर्त्तित और संक्षिप्त संस्करण निकाला तब उसमे अपना सिद्धांत एक दम बदल दिया। पहले संस्करण मे जो महत्त्व के सिद्धांत निरूपित किए गए थे वे सब परित्यक्त कर दिए गए और अद्वैत भाव के स्थान पर द्वैतभाव स्थापित किया गया। वुंट ने इस दूसरे संस्करण की भूमिका मे साफ़ कहा है कि—"पहले संस्करण मे जो भ्रम मुझ से हुए थे उनसे मैं मुक्त हो गया। कुछ दिनो पीछे जब मैने विचार किया तब मालूम हुआ कि पहले जो कुछ मैने कहा था वह

सब युवावस्था का अविवेक था, वह मेरे चित्त मे बराबर खटकता रहा और मै जहाँ तक शीघ्र हो सके उस पाप से मुक्त होने के लिए राह देखता रहा।" इस प्रकार वुंट के ग्रंथ के दो संस्करणो मे किए हुए मनस्तत्त्वनिरूपण एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। पहले संस्करण के निरूपण तो सर्वथा भौतिक हैं और अद्वैतवाद लिए हुए हैं और दूसरे संस्करण के निरूपण आध्यात्मिक और द्वैतभावापन्न है। पहले मे तो मनोविज्ञान को वुंट ने एक भौतिक विज्ञान मान कर उसका निरूपण उन्ही नियमो पर किया है जिन नियमो पर शरीरविज्ञान के और सब अंगो का होता है। पर तीस वर्ष पीछे उन्होने मनोविज्ञान को आध्यात्मिक विषय कहा और उसके तत्वो और सिद्धांतो को भौतिक विज्ञान के तत्त्वो और सिद्धांतो से सर्वथा भिन्न बतलाया। अपनी मन शरीर-संबंधी व्याख्या मे उन्होने कहा है कि प्रत्येक मनोव्यापार का कुछ न कुछ सहवर्त्ती भौतिक (या शारीरिक) व्यापार अवश्य होता है, पर दोनो व्यापार सर्वथा स्वतंत्र है, उनमे कोई प्राकृतिक (कार्य कारण आदि) संबंध नही। वुंट ने जो इस प्रकार शरीर और आत्मा को पृथक् बतला कर द्वैतवाद का डंका बजाया उससे दार्शनिक मंडली मे बड़ा आनंद फैला। द्वैतवादी दार्शनिक यह देख कर कि इतना बड़ा और प्रसिद्ध वैज्ञानिक पहले विरुद्ध मत प्रकट करके पीछे अनुकूल मत प्रकाशित कर रहा है एक स्वर से कहने लगे कि मनोविज्ञान की उन्नति हुई। पर लगातार चालीस वर्ष के अध्ययन के उपरांत अब भी मैं उसी 'अविवेक' में पड़ा हूँ। लाख

चेष्टा करने पर भी उससे मुक्त नही हो सका हूँ। अतः मै जोर के साथ कहता हूँ कि जिसे वुंट ने अपनी युवावस्था का 'अविचार' कहा है वही सच्चा विचार है, वही सच्चा ज्ञान है। उस सच्चे विचार का समर्थन बुड्ढे दार्शनिक वुंट के मत के विरुद्ध मै बराबर करता रहूँगा।

वुंट, कांट, विरशो, रेमंड, वेयर इत्यादि का इस प्रकार अपने सिद्धांतो को बदलना ध्यान देने योग्य है। युवावस्था मे तो ये योग्य तत्त्ववेत्ता जीवविज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र मे अत्यत विस्तृत अन्वेपण करते रहे और सव तत्त्वों की एक मूल प्रकृति ढूँढ़ने के प्रयत्न मे लगे रहे, पर पीछे बुढ़ापा आने पर, उसे पूर्णतया साध्य न समझ इन्होने अपना उद्देश्य ही परित्यक्त कर दिया—अपना रंग ही वदल दिया। इस परिवर्त्तन का कारण लोग यह कह सकते है कि युवावस्था मे बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण इन्होने सव वातो की ओर पूरा पूरा ध्यान नही दिया था, पीछे बुद्धि के परिपक्व होने पर और अनुभव बढ़ने पर इन्हे अपना भ्रम मालूम हुआ और इन्होंने वास्तविक ज्ञान का मार्ग पाया। पर यह क्यो न कहा जाय कि युवावस्था मे अन्वेषण-श्रम की शक्ति अधिक रहती है, बुद्धि अधिक निर्मल और विचार अधिक स्वच्छ रहता है, पीछे बुढ़ाई आने पर जैसे और सव शक्तियाँ शिथिल हो जाती है वैसे ही बुद्धि भी सठिया जाती है, जीर्ण हो जाती है। जो कुछ हो, पर वैज्ञानिको का यह सिद्धांत-परिवर्त्तन मनोविज्ञान में मनन करने योग्य विषय है। इससे यह सूचित होता है कि जीवों के और व्यापारो के समान मनोव्यापार

या आत्मव्यापार भी अपना रूप बदलते रहते हैं—अर्थात् आत्मा भी सदा एकरूप नहीं रहती।

भिन्न भिन्न श्रेणियो के जीवो के मनोव्यापारो को परस्पर मिलान करनेवाली विद्या को तारतम्यिक मनोविज्ञान कहते है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रकार जीवसृष्टि विज्ञान * मे जीवो की ऊँची नीची परंपरा का क्रम स्थिर है उसी प्रकार मनोव्यापारो की ऊँची नीची परंपरा का क्रम भी स्थिर किया जाय। ऐसा होने से ही हम समझ सकते है कि किस प्रकार एकघटक अणुजीव के क्षुद्र व्यापारो से ले कर मनुष्य के उन्नत मनोव्यापारो तक एक अखंडित शृंखला बँधी हुई है। मनोव्यापारो का यह श्रेणी-भेद मनुष्य की भिन्न जातियो मे भी परस्पर देखा जाता है। एक अत्यंत असभ्य जाति के जगली मनुष्य की बुद्धि मे और एक अत्यंत सभ्य जाति के मनुष्य की बुद्धि मे बड़ा भारी भेद होता है। इसी भेदपरपरा के अन्वेषण के विचार से असभ्य बर्बर जातियो की जॉच की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है, मनो-विज्ञान के तत्वो के निरूपण के लिए भिन्न भिन्न मनुष्य जातियो का विवरण बड़े काम का माना जाने लगा है।

मनोविज्ञान मे आत्मा के क्रमविकाश का निरीक्षण बहुत जरूरी है। इसके द्वारा जितनी जल्दी हम मिथ्या धारणाओ ओर भ्रमो को हटा कर आत्मवृत्तियो के यथार्थ रूप का आभास पा सकते हैं उतनी जल्दी और किसी प्रणाली के द्वारा नही। विकाश के दो रूप मै पहले बतला चुका हूँ—गर्भ

* Zoology.

विकाश और जातिविकाश । आत्मा का गर्भविकाश या स्फुरणक्रम देखने से यह पता चलता है कि किस क्रम से एक व्यक्ति की आत्मा गर्भकाल से लेकर बराबर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है और किन नियमो के अनुसार उसका विधान होता है। शिशु का अंत:करण किस प्रकार क्रमश पुष्ट और उन्नत होता जाता है मातापिता, शिक्षक आदि अत्यंत प्राचीन समय से देखते आ रहे है, पर उनके चित्त मे आत्मा की पूर्णता, अमरता आदि की जो धारणा बँधी चली आ रही है उससे उनका देखना और न देखना बराबर हो जाता है। पर अब इधर कुछ दिनो से बालक की आत्मा के विकाशक्रम का विचार होने लगा है। इस विषय पर पुस्तके भी लिखी गई है।

पहले कहा जा चुका है कि जीवसृष्टि मे गर्भविकाश और जातिविकाश का क्रम एक ही है। डारविन ने जीवो की भिन्न भिन्न योनियो के विकाश की परंपरा का क्रम दिखा कर उसी क्रम से मनोवृत्तियो के विकाश का होना भी दिखाया है। उसने अनेक प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया है कि जंतुओ की अंत:प्रवृत्ति भी जीवो की और और बातो के समान वृद्धिपरंपरा के नियमाधीन है। विशेष विशेष जीवो मे अंत:प्रवृत्ति की जो विशेषता देखी जाती है वह स्थिति सामंजस्य या अवस्थानुरूप परिवर्त्तन के कारण होती है। यह विशेषता पैतृक परंपरा द्वारा बराबर आगे की पीढ़ियो मे चली चलती है। जीवो की अंत:प्रवृत्ति का निर्माण और संरक्षण भी उसी प्रकार ग्रहण-सिद्धांत (देखिए-प्रकरण ५) के नियमानुसार होता है जिस प्रकार और शारीरिक शक्तियो का। डारविन ने कई पुस्तके लिख कर दिखाया है कि "मनोविकाश"

संवधी वे ही नियम समस्त जीव-सृष्टि पर घटते हैं—क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या उद्भिद्। जिस प्रकार भिन्न भिन्न जीवो की एक मूल से उत्पत्ति देखने से समस्त जीवसृष्टि की एकता प्रमाणित होती है उसी प्रकार अणुजीव से लेकर मनुष्य तक मनस्तत्त्व की एकता भी सिद्ध होती है।

रोमेंज ने डारविन के मनोविज्ञान को और प्रवर्द्धित किया। उसने दो ग्रंथ विकाशक्रमबद्ध मनोविज्ञान पर लिखे जो अपने ढंग के निराले हुए। पहला ग्रंथ जंतुओ के मनो-विकाश पर है। उसमे उसने क्षुद्र जंतुओ के संवेदन-व्यापार और अंत प्रवृत्ति से लेकर उन्नत जीवों की चेतना और बुद्धि तक की शृंखलाबद्ध परपरा दिखाई है। दूसरे ग्रंथ मे उसने मनुष्य के अंत करण का विकाश और उसकी शक्तियों का उद्भव दिखाया है। उसमे पूर्णरूप से सिद्ध किया गया है कि मनुष्य और पशु के अत.करण वा आत्मा मे कोई तत्त्वभेद नहीं है। मनुष्य मे संकल्प विकल्पात्मक विचार और प्रत्याहार आदि करने की जो शक्ति है वह दूध पिलानेवाले मनुष्येतर जीवों के अकल्पनात्मक कोटि के अंत.संस्कारो से ही क्रमश. स्फुरित और विकसित हुई है। मनुष्य की बुद्धि, वाणी, और आत्मबोध आदि की उन्नत शक्तियॉ किंपुरुष वनमानुस आदि पूर्वजो की मानसिक शक्तियों से उन्नत होते होते उद्-भूत हुई हैं। मनुष्य की अंत करण-शक्ति और दूसरे जीवों की अंत.करण-शक्ति मे केवल मात्राभेद है, तत्वभेद नही। शक्ति वही है, पर मनुष्य मे वह अधिक है और दूसरे जीवो मे कम।

—०—

सातवाँ प्रकरण ।

मनोविधान की श्रेणियाँ ।

विकाशसिद्धांत की सहायता से मनोविज्ञान ने इधर जो उन्नति की है उसके द्वारा समस्त जीवसृष्टि के मनस्तत्त्व की एकता पूर्णतया प्रतिपादित हुई है। तारतम्यिक मनोविज्ञान ने भी यह निश्चय दिला दिया है कि एकघटक अणुजीव से लेकर मनुष्य पर्य्यंत सब प्राणियो के जीवनव्यापार प्रकृति की उन्हीं मूल शक्तियो अर्थात् संवेदन और गति से उत्पन्न हुए है । अत: अब मनोविज्ञान के तत्त्वो का निरूपण दार्शनिको के उन्नत अंत करण की स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण के आधार पर ही नहीं होगा बल्कि जिन अनेक क्षुद्र या पाशव अवस्थाओ से क्रमश काल पाकर मनुष्य के उन्नत अंत करण की व्यवस्था हुई है उनकी संबंधपरपरा का भी पूर्ण विचार किया जायगा ।

संपूर्ण मनोव्यापार शरीर के जीवनतत्त्वरूपी कललरस मे होनेवाले परिवर्त्तनो के अनुसार होते है । हमने कललरस के उस अंश का नाम जो मनोव्यापारो का आधार-स्वरूप प्रतीत होता है मनोरस रक्खा है । हम उसकी कोई विशेष स्वतत्र सत्ता नही मानते । हम आत्मा या मन को कललरस के अंतर्व्यापारो की समष्टि मात्र समझते है। इस निश्चय के अनुसार 'आत्मा' शब्द शरीर का एक विशेष धर्म सूचित करने के लिये एक भाववाचक संज्ञा मात्र है । मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत

जीवो मे अवयवों और तंतुओ के कार्यविभाग के अनुसार मनोरस अलग विभक्त हो कर संवेदनग्राहिणी संवेदनसूत्रग्रंथियों की धातु का रूप धारण करता है। क्षुद्रकोटि के जीवो और पौधो मे जिन्हे संवेदना के लिए पृथक् और विशिष्ट सूत्र या अवयव नही होते मनोरस इस प्रकार एक स्वतंत्र रूप में विभक्त नही होता।

एकघटक अणुजीवो मे मनोरस या तो घटक के समस्त कललरस ही को कह सकते है या उसके एक अंश को। उनमें संवेदनग्राही सूत्र आदि अलग नही होते। क्षुद्र से क्षुद्र और उन्नत से उन्नत मनोविधान में मनोधातु की कुछ रासायनिक योजना और भौतिक क्रिया के विना 'आत्मा' का व्यापार नहीं उत्पन्न हो सकता। अणुजीवो की कलल-रसगत क्षुद्र संवेदना और गति से लेकर मनुष्य आदि उन्नत प्राणियो के जटिल इंद्रिय व्यापार और मस्तिष्क-व्यापार तक सब के विषय मे यही नियम हैं। मनोरस की वह क्रिया जिसे हम 'आत्मा' कहते है शरीर के द्रव्यवैकृत्य धर्म ❀ से संबद्ध है।

समस्त जीव संवेदनग्राही है। वे अपने चारो ओर स्थित पदार्थों का प्रभाव ग्रहण करते हैं और अपने शरीर की स्थिति

❀ metabolism घटकों या तंतुओं की वह क्रिया जिसके अनुसार वे रक्त द्वारा प्राप्त पोपक द्रव्यो को अपने अनुरूप रस या धातु में परिवर्तित कर लेते है या घटकस्थ कललरस को विश्लिष्ट कर के ऐसे सादे द्रव्यों मे परिणत कर देते है जो पाचनरस बनाने और मल निकालने मे काम आते हैं।

के कुछ परिवर्त्तनो द्वारा उन पदार्थों पर भी प्रभाव डालते हैं। प्रकाश और ताप, आकर्षण और विद्युदाकर्षण, रासायनिक क्रियाएँ और भौतिक व्यापार सब के सब संवेदनात्मक मनोरस में उत्तेजना या क्षोभ उत्पन्न करके उसके अण्वात्मक विधान मे परिवर्त्तन उपस्थित करते हैं। मनोरस की इस संवेदना की क्रमशः पाँच अवस्थाएँ है—

(१) जीवविधान की प्रारंभिक अवस्था मे समस्त मनोरस ही सर्वत्र समानरूप से संवेदनग्राही होता है और क्षोभकारक पदार्थ पर बाहर से प्रभाव डालता हैं। सब से क्षुद्र कोटि के अणुजीव और बहुत से पौधे इसी अवस्था मे रहते हैं।

(२) दूसरी अवस्था वह है जिसमे शरीर के ऊपर विषय-विवेकरहित इंद्रियाभास कललरस के सुतड़ो या बिंदियो के रूप मे प्रकट होते हैं। ये स्पर्शेंद्रिय और चक्षु के पूर्व रूप है जो कुछ उन्नत अणुजीवो तथा दूसरे क्षुद्र जंतुओ और पौधो मे देखे जाते है।

(३) तीसरी अवस्था में इन्ही मूलविधानो से विभक्त होकर अलग अलग कार्य्यों के उपयुक्त विशिष्ट इंद्रियाँ उत्पन्न होती है। इनमे रसनेंद्रिय और घ्राणेंद्रिय रासायनिक करण है अर्थात् रासायनिक क्रियाओ को ग्रहण करती है; स्पर्शेंद्रिय, श्रवण, और चक्षु भौतिक करण हैं अर्थात् इनसे कोमलता, कठोरता, शीत, उष्ण, शब्द (वायुतरंग), तथा वर्ण और आकृति इत्यादि भौतिक गुणो और व्यापारो का ग्रहण होता है। इन " इन्द्रियों की शक्ति " कोई निहित मलगण

नहीं है बल्कि कार्योपयुक्त परिवर्तन और वंशपरंपरागत उन्नति क्रम के द्वारा प्राप्त होती है।

(४) चौथी अवस्था मे समस्त संवेदनविधानो अर्थात इंद्रियव्यापारो का एक स्थान पर समाहार होता है। विकीर्ण या भिन्न भिन्न स्थानो पर स्थित इंद्रियव्यापारो का एक स्थान पर समाहार होने से अंत संस्कार उत्पन्न होता है, अर्थात् इंद्रियसंवेदनो के स्वरूप अंकित होते हैं। पर चेतन अंतःकरण का विकाश न होने के कारण उन स्वरूपो का कुछ बोध नहीं होता। यह अवस्था बहुत से क्षुद्र जंतुओ की होती है।

(५) पॉचवी अवस्था मे अंकित इंद्रियसवेदनो का प्रतिबिंब संवेदन-सूत्रजाल या विज्ञानमयकोश के केंद्रस्थल मे पड़ता है जिससे अतःसाक्ष्य या स्वांतर्वृत्तिबोध उत्पन्न होता है। * इस प्रकार चैतन्य की उत्पत्ति हो जाने पर जीव को अपने ही अंत.करणके व्यापारो का बोध होने लगता है। मनुष्य तथा दूसरे रीढ़वाले जंतु इसी चेतन अवस्था के अंतर्गत हैं।

समस्त जीवधारियो मे "स्वत.प्रवृत्त गति" की भी शक्ति होती है। सजीव मनोरस का कुछ ऐसा रासायनिक संयोग होता है कि कारण पाकर उसके अणु अपना स्थान बदलते हैं। इस प्रकार की सजीव गति कुछ तो हम ऑखो से देख सकते हैं। यह गति पॉच अवस्थाओ मे पाई जाती है—

* अतःकरण से आत्मा को पृथक् माननेवाले यहीं से आत्मा का प्रादुर्भाव मान सकते हैं। आत्मा का नाम चैतन्य हैं।

(१) जीवविधान की अत्यंत क्षुद्र प्रारंभिक अवस्था मे, जैसे समुद्र के क्षुद्र उद्भिदाकार कृमियो आदि अत्यंत निम्न श्रेणी के जीवों मे, केवल "अंगवृद्धि की गति" देखी जाती है। हम उनके आकार की क्रमशः होनेवाली वृद्धि और परिवर्तन को देख कर ही इस गति का अनुमान कर सकते हैं।

(२) वहुत से उद्भिदाकार सूक्ष्म जंतु आगे की ओर एक लसीला पदार्थ निकाल कर शरीर ढालते हुए रेंगतें या तैरते हैं।

(३) वहुत से क्षुद्र समुद्री अणुजीव कभी घटस्थ वायु को निकाल कर और कभी तरलाकर्पण* शक्ति के द्वारा अपने गुरुत्व मे अंतर डाल कर पानी मे नीचे जाते या ऊपर उठते है।

(४) वहुत से पौधे, जैसे लजालू (लज्जालु) अपने शरीर के तनाव मे फेरफार करके अपनी पत्तियो तथा और अवयवो को हिलाते है अर्थात् वे अपने घटस्थ कललरस के तनाव को घटा वढ़ाकर अपने अवयवो को सुकोड़ते या फैलाते है।

(५) सजीव पदार्थों की सव से अधिक ध्यान देने योग्य गति आकुंचन है। इसमें जीव के वाहरी अवयवों की स्थिति मे जो अतर पड़ता है वह शरीरस्थ द्रव्यो के आकुंचन

* द्रव पदार्थों में परस्पर मिलने की प्रवृत्ति जो अणुओं के परस्पर आकर्षण से सवंध रखती है।

और प्रसारण द्वारा। यह आकुंचनात्मक गति चार प्रकार की देखी जाती है—

(क) जल मे रहनेवाले अस्थिराकृति अणुजीवो की सी गति। *

---

* इस प्रकार के अस्थिराकृति सूक्ष्म अणुजीव ताल या गड्ढो के बँधे जल मे तथा समुद्र मे होते हैं। इनका शरीर एक ही घटक का बना हुआ सूक्ष्म मधुबिंदुवत् होता है। ये बहुत ही अच्छे खुर्दबीन से दिखाई पड़ सकते है। इनका आकार क्षण क्षण पर बदलता रहता है। इस आकार बदलने का कारण यह है कि ये चारो ओर कभी कहीं कभी कहीं अपने शरीर से पैरो की तरह की अनेक शाखाएँ या पादाकुर निकाला करते है। इनके चलने की क्रिया इस प्रकार होती है कि ये एक ओर बडी सी शाखा या पादाकुर निकालते है फिर उसी ओर अपना सारा शरीर ढाल देते है। इस प्रकार शाखा निकालते और शरीर ढालते हुए ये आगे बढ़ते जाते है। इन जीवो को विशिष्ट इद्रियाँ नही होती।

इनका शरीर झिल्ली के भीतर बद कललरस-कणिका के अतिरिक्त और कुछ नही होता। कललरस के भीतर बिंदु का तरह एक खाली स्थान होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। इसी आकुचन और प्रसारण क्रिया से शरीर मे प्राणवायु और आहार का सचार होता है। यह पाचन और रक्तसचार का आदिम रूप है। बतलाने की आवश्यकता नही कि ऐसेही अनेक क्षुद्र अणुजीवो के योग स बड़े जतुओं के शरीर बने है। मनुष्य के रक्त मे भी इसी प्रकार के अणुजीव होते हैं। इनका शरीर सर्वत्र एकरस होता है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते हैं अपने रसबिंदुरूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते हैं।

(ख) घट के भीतर कललरस की वैसीही गति या प्रवाह।

(ग) रोईं या सुतड़ेवाले अणुजीवो, शुक्रकीटाणुओ इत्यादि की कुटिल गति। (ये जीव अपने रोइयो या सुतड़ो के सहारे जल या द्रव पदार्थ मे रेंगते हैं।)

(घ) मांसपेशियो ❀ के संचालन की गति जो अधिकतर जंतुओ मे देखी जाती है।

संवेदन और गति के संयोग से जो मूल या आदिम मनोव्यापार उत्पन्न होता है उसे प्रतिक्रिया कहते है। इसमे गति चाहे किसी प्रकार की हो संवेदन उत्पन्न करने-वाली विषयोत्तेजना के कारण होती है। इसीसे इसे उत्तेजित गति कहते है। कललरस मे उत्तेजित होने का गुण होता है। जीव के चारो ओर स्थित पदार्थों मे जो भौतिक या रासाय-निक परिवर्त्तन उपस्थित होता है कुछ अवस्थाओ मे वह मनोरस को उत्तेजित करता है जिससे शरीर मे गति का वेग छूट पड़ता है। जड़सृष्टि मे भी इस प्रकार उत्तेजना पाकर वेग के छूटने का भौतिक व्यापार देखा जाता है, जैसे चिनगारी पड़ने से वारूद का भड़कना, ठोकर या आघात लगने से

❀ ककाल से लगा हुआ मास बहुत से सूक्ष्म टुकड़ो या ग्रथियो से बना होता है। इन अलग अलग ग्रथियों को पेशी कहते है। पेशियाँ कई आकार की होती है—कोई लबी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई चौकोर और कोई तिकोनी। ये महीन सूतो से जुड़ी रहती है, यदि सूत हटा दिए जायँ तो ये अलग अलग हो जाती हैं। जितनी गतियाँ शरीर मे होती हैं सब इन्हीं मास पेशियों ही के द्वारा।

डेनामाइट का भड़कना इत्यादि। जीवधारियो मे जो प्रतिक्रिया होती है उन्नतिक्रम मे उसकी सात अवस्थाएँ देखी जाती है—

(१) जीवविधान की प्रारंभिक अवस्था के सब से क्षुद्र अणुजीवो मे वाह्य जगत् की उत्तेजना (ताप, प्रकाश, विद्युत् आदि) से कललरस मे केवल वही गति उत्पन्न होती है जिसे अंगवृद्धि और पोषण कहते है और जो समस्त जीवधारियो मे समान रूप से पाई जाती है। अधिकांश पौधों मे भी ऐसा ही होता है।

(२) डोलने फिरनेवाले अणुजीवो (जैसे अस्थिराकृति अणुजीवो) मे वाहर की उत्तेजना शरीरतल के प्रत्येक स्थान पर गति उत्पन्न करती है जिससे आकृति वदलती रहती है और स्थान भी वदलता है। यह आकृतिपरिवर्त्तन और हिलना डोलना शरीर मे से क्षण क्षण पर कभी इधर कभी उधर चारो और पादांकुर या शाखाएँ निकलते और सिमटते रहने से होता है। ये जीव यथार्थ मे कललरस के छीटे के रूप के ही होते है अतः इनमे जो पादांकुर निकलते और मिटते रहते है वे स्थिर अवयव नही कहे जा सकते। इसी प्रकार की उत्तेजन-ग्राहकता से लजालू आदि पौधो तथा कई अनेकघटक (अनेक घटको के योग से वने) जीवो मे भी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। अनेकघटक जीवो मे उत्तेजना एक घटक से हो कर फिर दूसरे घटक मे जाती है क्योकि ये घटक एक प्रकार के तंतु से संवद्ध रहते हैं।

(३) वहुत से उन्नत कोटि के अणुजीवों मे दो अत्यंत सादे अवयव या इंद्रियाँ देखी जाती हैं। एक स्पर्श की इंद्रिय,

दूसरी गति की इंद्रिय। ये दोनो करण (इंद्रियां) भी कललरस के वाहर निकले हुए अंकुर मात्र हैं। स्पर्श की इंद्रिय पर जो उत्तेजना पड़ती है वह घटकस्थ मनोरस द्वारा गति की इंद्रिय तक पहुंचती है और उसे आकुंचित करती है। समुद्र मे पाए जाने वाले रोईदार अणुजीवो को लेकर यह व्यापार देखा जा सकता है। ये जीव अस्थिराकृति जीवो से कुछ वडे (अर्थात ४०० इंच के लगभग) और अनेक आकार के होते है—कोई प्याले के आकार के, कोई घंटी के आकार के, कोई जौ के आकार के। इनमे कुछ चर (चलने फिरनेवाले) होते है और कुछ अचर। इनके शरीर मे एक प्रकार के रोएँ होते है जिनके सहारे ये चलते फिरते और आहार संग्रह करते है। चट्टान आदि मे जमे हुए (अचर) इन अणुजीवो के खुले ऊपरी छोर (वह छोर जो चट्टान आदि मे जमा नही रहता है, ऊपर की ओर होता है) पर के रोयो को जरा सा भी छूएँ तो जमे हुए छोर पर जो सूत की सी डंठी होती है वह चट सुकड जाती है। इसे जीवो की सादी 'प्रतिक्रिया' कहते है।

(४) रोईवाले अणुजीवो के इस व्यापार के आगे फिर हमे मूँगे * आदि अनेकघटक जीवो का संवेदनसूत्रमय विधान मिलता है। इनका प्रत्येक संवेदनसूत्रात्मक और पेशीतंतुयुक्त घटक प्रतिक्रिया का एक एक करण है।

---

* मूँगा बहुत से छोटे छोटे कृमियों का समूह है जो समुद्र के भीतर थूहर के पेड के आकार मे जमा हुआ मिलता है। देखने में यह पेड़ की तरह जान पडता है पर वास्तव मे क्षुद्र कृमियो की बस्ती है।

इसके ऊपर की ओर एक मर्मस्थल होता है और भीतर की ओर एक गत्यात्मक पेशीतंतु होता है। मर्मस्थल छूते ही यह पेशीतंतु सुकड़ जाता है।

(५) समुद्र मे तैरनेवाले छत्रककीटो मे संवदनसूत्र और पेशी युक्त एक घटक के स्थान-पर दो घटक मिलते है जो एक सूत्र से सबद्ध रहते है। इनमे से एक तो वाहर संवेदनग्राही घटक होता है, दूसरा चमड़े के भीतर पेशीघटक होता है। प्रतिक्रिया के इस द्विघटकात्मक करण मे वाहरी घटक तो संवेदनग्रहण करने की इंद्रिय है और भीतरी घटक गत्यात्मक कर्मेंद्रिय है। दोनो घटको को मिलानेवाला वीच मे जो मनोरसनिर्मित सूत्र होता है उसी के द्वारा उत्तेजना एक घटक से दूसरे घटक तक पहुँचती है।

(६) प्रतिक्रिया का जो विधान आगे चल कर मिलता है उसमे दो दो के स्थान पर तीन तीन घटक मिलते हैं। सवंधकारक सूत्र के स्थान पर एक स्वतंत्र घटक ग्रंथि के रूप में प्रकट होता हे जिसे हम मनोघटक या संवेदनग्रंथि-घटक कह सकते है। इसी घटक के द्वारा अचेतन अंत:संस्कार उत्पन्न होता है अर्थात् संवेदनो के स्वरूप अकित होने लगते है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस अवस्था मे चेतन अंत:करण न रहने के कारण उन स्वरूपो का वोध नही हाता। उत्तेजना पहले संवेदनग्राही घटक से इस मध्यस्थ मनोघटक मे पहुँचती है और फिर यहाँ से क्रियोत्पादक पेशी-घटक में पहुँच कर गति की प्रेरणा करती है। प्रतिक्रिया का यह त्रिघटकात्मक करण विना रीढ़वाले जंतुओ में मिलता है।

(७) रीढ़वाले जंतुओ मे त्रिघटकात्मक के स्थान पर चतुर्घटकात्मक करण पाया जाता है अर्थात् संवेदनग्राही संवेदनघटक और क्रियोत्पादक पेशीघटक के बीच में दो भिन्न भिन्न मनोघटक मिलते है। बाहरी उत्तेजना पहले संवेदनग्राही मनोघटक मे जाती है, फिर संकल्पात्मकघटक मे पहुँचती है और अंत मे आकुंचनशील पेशीघटक मे जाकर गति उत्पन्न करती है। ऐसे अनेक चतुर्घटकात्मक करणों और नए नए मनोघटको के संयोग से मनुष्य तथा और उन्नत जीवो के जटिल मनोविज्ञानमयकोश या चेतन अंत.करण की सृष्टि होती है।

ऊपर के विवरणो से स्पष्ट होगया होगा कि 'प्रतिक्रिया' ही मूल या आदिम मनोव्यापार है। एकघटक अणुजीवो मे 'प्रतिक्रिया' नामक सारा भौतिक व्यापार एक ही घटक के कललरस मे होता है। कललरस के विकार समग्र मनोरस मे जो एक सा व्यापार होता है उसी को हम ऐसे जीवो की घटकस्थ आत्मा कह सकते है। आगे चलकर उन्नत अवस्था मे इसी मनोरस के अनेक विभाग होकर इंद्रिय, अतःकरण आदि उत्पन्न होते हैं।

मनोव्यापार की दूसरी अवस्था यौगिक 'प्रतिक्रिया' है जो कर्कोटक* आदि समूहपिंड में रहनेवाले समुद्री अणुजीवो

---

* ये सूक्ष्म एकघटक समुद्री जतु ककोड़े या अडी के फल के आकार का छत्ता या गोलपिंड बनाकर समूह में रहते है। पिंडवद्ध होने पर भी प्रत्येक घटक या अणुजीव स्वतन्त्र होता है। पिंड छत्ता मात्र होता है एक शरीर नहीं होता। छत्ते मे प्रत्येक अणुजीव जड़ा

मे देखी जाती है। ये असंख्य एकघटक जीव मिलकर समूह पिंड बनाते है और कललरस के तंतुओ द्वारा एक प्रकार से संबद्ध रहते है। यदि किसी एक घटक पर कोई उत्तेजना पड़ी तो वह तुरंत इन तंतुओ द्वारा शेष सब घटको तक पहुँच जाती है और सारा समूह संकुचित हो जाता है। इस प्रकार का व्यापार बहुघटक (अनेक घटको या जीवाणुओ द्वारा निर्मित) जतुओ और पौधो के घटकों के बीच भी होता है। लज्जालु नामक पौधे को ही लीजिए। जहाँ उसकी जड़ के पास भी किसी का पैर छू गया कि उत्तेजना तुरत सारे घटको में फैल जाती है और उसकी पत्तियाँ सुकड़ जाती तथा टह-नियाँ झुक पडती है।

"प्रतिक्रिया" नामक आदिम मनोव्यापार का सामान्य लक्षण यह है कि उसमे चेतना का अभाव होता है। उत्तेजना पहुँची कि गति उत्पन्न हुई, जैसा कि बारूद आदि निर्जीव पदार्थों मे देखा जाता है। चेतना केवल मनुष्य तथा और उन्नत जीवों मे ही मानी जा सकती है, उद्भिदो और क्षुद्र जंतुओ मे नहीं। उद्भिजो और क्षुद्र जतुओ मे उत्तेजना पा कर जो गति उत्पन्न होती है वह 'प्रतिक्रिया' मात्र है—अर्थात् ऐसी क्रिया है जो संकल्प कृत नहीं, किसी अंतःकरण वृत्ति द्वारा प्रेरित नही। जिनमे संवेदनवाहक सूत्रजाल केंद्रीभूत होता है और जिन्हे विशिष्ट

सा होता है। अणुजीवों के सुतडे या रोइयॉ बाहर की ओर निकली होती हैं। इनके सहारे पिंड जल में तैरता है। पिंड का परिमाण प्रायः इच के पचासवें भाग के बराबर होता है।

पूर्ण इंद्रियां होती हैं उन उन्नत जीवो के मनोव्यापार और ढंग के होते हैं। उनमे 'प्रतिक्रिया' रूपी आदिम मनोव्यापार से धीरे धीरे चेतना का स्फुरण होता है और संकल्पकृत चेतन व्यापार प्रकट होते हैं। निम्न श्रेणी के क्षुद्र जीवो मे केवल प्रतिक्रिया ही रहती है। यह प्रतिक्रिया भी दो प्रकार की होती है—मूल और उत्तर। मूल प्रतिक्रिया वह है जो जीव-सृष्टिपरंपरा मे चेतन अवस्था को कभी प्राप्त न हुई हो, अपने मूल रूप मे ही बराबर वंशपरंपरानुसार चली आती हो। उत्तर प्रतिक्रिया वह है जो पूर्वज जंतुओ मे तो संकल्पकृत चेतन व्यापार के रूप मे थी पर पीछे (उन पूर्वज जंतुओ से विकाशपरंपरानुसार उत्पन्न होनेवाले परवर्त्ती जंतुओ मे) अभ्यास आदि के कारण अज्ञानकृत अचेतन व्यापार के रूप मे हो गई। ऐसी अवस्था मे चेतन और अचेतन अंतर्व्यापारो के बीच कोई भेद-सीमा निर्धारित करना असंभव है। कौन व्यापार ज्ञानकृत (चेतन) है और कौन अज्ञानकृत यह सदा ठीक ठीक बतलाया नही जा सकता।

अब अंत:संस्कार को लीजिए। इंद्रियो की क्रिया से प्राप्त बाह्य विषय का जो प्रतिरूप भीतर अंकित होता है उसे अंत:संस्कार या भावना कहते है। जीवो की ऊँची नीची श्रेणियो के अनुसार अंत:संस्कार चार रूपो मे देखा जाता है—

(१) घटकगत अंत:संस्कार—क्षुद्र एकघटक अणुजीवो मे अंत:संस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण होता है। ऐसे जीवो मे भी संवेदन का चिह्न मनोरस में रह जाता है और धारणा या स्मृति के द्वारा फिर स्फुरित हो सकता

है। एक प्रकार के अत्यंत सूक्ष्म गोल सामुद्र अणुजीव होते हैं जिनके ऊपर आवरण के रूप मे एक पतली चित्रविचित्र खोपड़ी होती है। इस खोपड़ी की चित्रकारी सब मे एक सी नही होती, भिन्न भिन्न होती है। खोपड़ी की रचना और चित्रकारी के विचार से इस जीव के हजारो उपभेद दिखाई पड़ते हैं। किसी एक विशेष चित्रकारी वाले जीव से विभाग द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनमें भी वही चित्रकारी बनी मिलती है। इसका केवल यही कारण बतलाया जा सकता है कि निर्माण करनेवाले कललरस में अंत.संस्कार की वृत्ति होती है उसमे परत्व-अपरत्व-संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है।

(२) तंतुजाल-गत अंत:संस्कार—समूहपिंड बना कर रहने वाले एकघटक अणुजीवो * और स्पंज आदि संवेदनसूत्र-रहित क्षुद्र अनेकघटक (सामुद्र) जीवो, तथा पौधो के तंतुजाल मे हमें अंत:संस्कार की दूसरी श्रेणी मिलती है। इसमे बहुत से परस्पर संबद्ध घटको का एक सामान्य मनोव्यापार देखा जाता है। इन जीवों में किसी एक इंद्रिय के उत्तेजन से प्रतिक्रिया मात्र उत्पन्न हो कर नहीं रह जाती बल्कि तंतुघटको के मनोरस मे संस्कार भी अंकित होते हैं जिनका फिर स्फुरण होता हैं।

---

* ये सूक्ष्म अणुजीव एक समूहपिंड तो बना लेते हैं पर इनमें परस्पर उतना घनिष्ट संबंध नहीं होता जितना समवाय रूप से एक शरीर की योजना करनेवाले घटकों में होता है।

(३) ❀ संवेदनसूत्रग्रंथिगत अचेतन अंत:संस्कार—इस उन्नत कोटि का अंत:संस्कार अनेक छोटे जंतुओ मे देखा जाता है। उनका व्यापार समस्त घटको में नही होता वल्कि विशिष्ट स्थानो मे अर्थात् मनोघटको मे ही होता है। यह अपने सादे रूप मे उन्ही जीवो मे प्रकट होता है जिनमे 'प्रतिक्रिया' के लिए त्रिघटकात्मक करण का विकाश होता है। ऐसे जीवों मे अंत:संस्कार का स्थान संवेदनघटक और पेशी-घटक के बीच का मध्यस्थ घटक होता है। विज्ञानमय कोश के विभाग-विधान के अनुसार यह अचेतन अंत संस्कार भी उन्नति की कई अवस्थाओ को पहुँचता है।

(४) मस्तिष्कघटको मे चेतन अंत:संस्कार—जीवो की उन्नत श्रेणियो की ओर बढ़ने पर हमे अंतर्बोध या चेतना मिलने लगती है जो कि विज्ञानमय कोश के मध्यभाग के एक विशिष्ट करण की वृत्ति है। उन्नत जीवो मे जो अत संस्कार होते है वे चेतन होते है, अर्थात् उनका बोध भीतर होता है। इस अनुभव के साथ ही साथ जब चेतन अंत संस्कारो की योजना के लिए मस्तिष्क के विशेष विशेष अवयव स्फुरित हो जाते है तब अंत.करण उन वृत्तियो या व्यापारो के योग्य हो जाता है जिन्हे हमे विचार, चितन, बुद्धि आदि कहते है।

❀ संवेदनवाहक सूत्रो को ज्ञानतंतु भी कहते हैं। ये शरीर के सब स्थानों में होते हैं। रक्तवाहिनी नीली और लाल नलियों (शिराओं और धमनियों) से ये इस प्रकार पहचाने जाते हैं कि ये श्वेत होते है और भीतर से खोखले नहीं होते। खींचने से ये उतनी जल्दी नहीं टूटते।

अचेतन और चेतन अंत:संस्कारों के बीच कोई सीमा निर्धारित करना अत्यंत कठिन है। यह नही वतलाया जा सकता है कि जीवसृष्टिक्रम मे किन जीवो तक अंत-संस्कार अचेतन रहते है और किन जीवो से चेतन होने लगते हैं। हॉ, इतना अलवत कहा जा सकता है कि अचेतन संस्कार से चेतन संस्कार के विकाश की परंपरा कई शाखाओ मे चलती है। यह नही है कि चेतना और बुद्धि के व्यापार मनुष्य, बंदर, कुत्ते, पक्षी आदि रीढ़वाले उन्नत जतुओ मे ही देखे जाते है बल्कि चींटी, मकड़ी, केंकड़े आदि क्षुद्र कीटो मे भी पाए जाते है।

अंत सस्कार से ही संवद्ध धारणा या स्मृति है। यह वास्तव मे अंत-संस्कारो की पुनरुद्भावना है जिस पर सारे उन्नत मनो-व्यापार अवलंवित है। वाह्यविपय के इंद्रियो पर जो प्रभाव पड़ते है वे मनोरस मे अंत-संस्कार के रूप मे जाकर ठहर जाते है और स्मृति द्वारा पुनरुद्भूत होते है अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त होते है। मनोरस की निष्क्रिय अव्यक्त शक्ति सक्रिय व्यक्त शक्ति के रूप मे परिवर्तित हो जाती है।* अंत संस्कार की चार श्रेणियो के अनुसार स्मृति की भी चार श्रेणियॉ है—

(१) घटकगत स्मृति—स्मृति सजीव द्रव्य का एक सामान्य गुण है। इस महत्त्वपूर्ण वात को कुछ दिन हुए एक

---

* भौतिक-विज्ञान में वेग या शक्ति के दो रूप माने गए हैं—निहित और व्यक्त, जैसे पहाड की ढाल पर पड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, बेरे मे कसी हुई वारूद मे क्रमशः

वैज्ञानिक ने अपने एक ग्रंथ मे कहा। मैने इस बात को विकाशसिद्धांत के अनुसार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पहले कहा जा चुका है कि कललरस एक दानेदार चिपचिपा पदार्थ है अर्थात् वह बहुत सी सूक्ष्म कणिकाओं के योग से संघटित है। ये कणिकाएँ कई आकार और प्रकार की होती है। इनमें जो विधान करनेवाली क्रियमाण मूल कणिकाएँ होती है उन्हें हम कललाणु कह सकते है। मैने अपनी एक पुस्तक मे निरूपित किया है कि 'अचेतन स्मृति' कललाणु की एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है। क्रियावान् कललरस के इन मूलकललाणुओ मे ही पुनरुद्‌भूति होती है अर्थात् इन्ही मे स्मृतिशक्ति आदिरूप मे रहती है, निर्जीव द्रव्य के अणुओ मे नही। यही सजीव और निर्जीव सृष्टि मे अंतर है। वंशपरंपरा ही को कललाणु की धारणा या स्मृति समझना चाहिए। एक-घटक अणुजीवो की आदिम स्मृति उन कललाणुओ की अण्वात्मक स्मृति के योग से बनी है जिनके मेल से उनका एकघटकात्मक शरीर बना है। एक अणुजीव की जो विशेपताएँ होती है वे उससे उत्पन्न दूसरे अणुजीवो मे रक्षित रहती हैं यही ऐसे जीवो की धारणा या स्मृति है। ऊपर कहा

गिरने, चलने और भड़कने की जो शक्ति है उसे निहित या अव्यक्त शक्ति कहते है। जब पत्थर गिरता है, घड़ी चलती है और बारूद भड़कती है तब वही शक्ति व्यक्त हो जाती है। ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ एक दूसरे के रूप मे परिवर्तित होती रहती है, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होती रहती हैं।

जा चुका है कि बहुत से अणुजीव ऐसे होते हैं जिनके आवरणों पर एक दूसरे से भिन्न प्रकार की रचनाएँ होती हैं। परीक्षा द्वारा देखा गया है कि किसी एक विशेष रचना के आवरणवाले जीव से विभाग आदि द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनके आवरणों पर भी ठीक ठीक उसी प्रकार की रचना होती है। रचना का यह क्रम बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चला जाता है।

(२) तंतुगत स्मृति - घटकों के समान घटकजाल में भी अचेतन स्मृति पाई जाती है। स्पंज आदि समूहपिंड बना कर रहनेवाले जीवों में भी एक समूहपिंड के संस्कार उससे उत्पन्न दूसरे पिंडों में भी बराबर चले चलते हैं।

(३) उन्नति की तीसरी अवस्था में उन जीवों की चेतना रहित स्मृति है जिनमें विज्ञानमय कोश रहता है। यह अचेतन स्मृति उन अचेतन अंत संस्कारों की पुनरुद्भावना है जो संवेदनसूत्र ग्रंथियों में संचित होते जाते हैं। क्षुद्र कोटि के अधिकांश जंतुओं में स्मृति अचेतन रहती है अर्थात् अंतःसंस्कारों की धारणा के अनुसार जो शारीरिक व्यापार होते हैं उनका कुछ भी ज्ञान ऐसे जंतुओं को नहीं होता। वे व्यापार केवल शरीरधर्म समझे जाते हैं। मनुष्य आदि पूर्ण अंतःकरणवाले जीवों में भी यदि देखा जाय तो चेतन की अपेक्षा अचेतन स्मृति के ही व्यापार अधिक पाए जायँगे। हाथ पैर हिलाने, चलने फिरने, बोलने, खाने पीने इत्यादि क्रियाओं को यदि लीजिए तो इनमें न जाने कितनी ऐसी निकलेंगी जिनकी ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं रहता, जो अज्ञानकृत होती हैं।

(४) चेतन स्मृति का व्यापार मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों

के कुछ मस्तिष्कघटको मे होता है। यह व्यापार वास्तव मे अंत संस्कारो का प्रतिविव पड़ने से होता है। पहले क्षुद्र पूर्वज जीवो मे स्मृति के जो व्यापार अचेतन रहते है वे उन्नत अंत. करण वाले जीवो मे चेतन हो जाते है। मनुष्य आदि के अंत.-करण मे जिन संस्कारो की धारणाएँ रहती है वे फिर ज्ञानपूर्वक उपस्थित की जाती है।

यहाँ तक तो धारणा या स्मृति की वात हुई। अव अंतः संस्कारो की शृंखला या भावयोजना को लीजिए। इसकी भी ऊँची नीची अनेक श्रेणियाँ है। यह भी अपने आदि रूप मे अचेतन ही रहती है और 'प्रवृत्ति' कहलाती है। यही क्रमशः बढ़ते वढते उन्नत जीवो मे चेतनवृत्ति हो जाती है और बुद्धि कहलाती है। इस भावयोजना की परंपरा अनेक रूपो मे चलती है। पर ध्यान दे कर यदि देखा जाय तो क्षुद्र से क्षुद्र अणुजीव की अचेतन अंत.संस्कार-योजना से ले कर सभ्य से सभ्य मनुष्य की विशद भावशृंखला तक संवंध-परंपरा का सूत्र मिलेगा। मनुष्य मे चेतन संस्कारो की योजना होती है यही उसकी सवसे वड़ी विशेषता है। जिस हिसाव से आधिकाधिक अंत'संस्कारो की योजना होती जाती है और जिस हिसाव से शुद्ध बुद्धि के विवेचन से यह योजना व्यवस्थित होती जाती है उसी हिसाव से अंत:करणवृत्ति पूर्णता को पहुँचती जाती है। स्वप्न मे इस व्यवस्था करनेवाली विवेचनशक्ति के न रहने से पुनरुद्भूत संस्कारो की जो विलक्षण योजना होती है उससे अलौकिक दृश्य दिखाई पड़ते है। कविकल्पित रचनाओ मे, जिनमे अंतः संस्कारो की प्रकृत योजना मे उलटफेर कर के अनोखे स्वरूप खड़े

किए जाते हैं. ये अंत.संस्कार एक अत्यंत अस्वाभाविक क्रम से संयोजित होते है और साधारण देखनेवाले को अत्यंत अयुक्त प्रतीत होते हैं। मस्तिष्क के बिगड़ जाने पर जो अनेक प्रकार के रूप दिखाई पड़ते हैं वे अंत.संस्कारों की इसी अव्यवस्था के कारण। मृत पुरुषों की आत्माओं का साक्षात्कार, देवदूतों का दर्शन, आकाशवाणी, इलहाम तथा इसी प्रकार की और भी अंधपरंपरा की बातें इसी अव्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं। पर 'आभास', 'इल्हाम' आदि को बहुत दिनों से लोग ज्ञान का अमित भांडार समझते आ रहे हैं।

योरप में बहुत प्राचीन काल से लोग मनुष्य और पशु की अंतःकरणवृत्तियों को भिन्न भिन्न समझते आ रहे थे।* ऐसा साधारण विश्वास था, और अब भी थोड़ा बहुत है, कि मनुष्य 'बुद्धि' के अनुसार कार्य्य करता है और पशु 'प्रवृत्ति' के अनुसार। पर डारविन आदि विकाशवादियों ने इस विश्वास को भ्रांत सिद्ध कर दिया है। अपने 'ग्रहण-सिद्धांत' के आधार पर डारविन ने नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण बातें निर्धारित की हैं—

(१) एक ही योनि के जीवों की अंतःप्रवृत्तियों में भी कुछ न कुछ व्यक्तिगत विभिन्नता होती है तथा 'स्थितिसामंजस्य' के नियमानुसार उनमें भी ठीक इसी प्रकार फेरफार हो जाता है जिस प्रकार अवयवों में होता है।

---

* भारतवर्ष में उक्त आवागमन या जन्मांतरवाद के कारण ऐसी धारणा कभी नहीं उत्पन्न होने पाई जिसके अनुसार एक ही आत्मा मनुष्य से लेकर कीट, पतंग आदि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करती है।

उपयोग द्वारा, विचार और संकल्प द्वारा, ज्ञानकृत उद्दिष्ट कर्म द्वारा उत्पन्न हुई, पर पीछे धीरे धीरे वे इतनी मँज गई कि अज्ञान की दशा मे भी प्रकट होने लगी। यहाँ तक कि वंशपरंपरा के विधान से वे आगे की पीढ़ियो मे स्वभावसिद्ध सी हो गई। उन्नत जीवो की वे अज्ञानकृत क्रियाएँ जो शरीरधर्म कहलाती है (जैसे, पलको का गिराना, चलने मे पैरो का हिलाना, आदि) पूर्वज जीवो मे ज्ञानकृत थी पर पीछे स्वभावसिद्ध प्रवृत्तियो मे दाखिल हो गई। इसी प्रकार मनुष्य के वे सारे निरूपण जो स्वत सिद्ध कहलाते है (जैसे, एक ही वस्तु के समान वस्तुएँ परस्पर समान होती है) उसके पूर्वजो ने अनुभव और साक्षात्कार द्वारा स्थिर किए थे।

वहुत से लोग कहते है कि पशुओं मे बुद्धि नही होती, बुद्धि केवल मनुष्य मे होती है। पर यह भ्रम है। रीढ़वाले विशेषत दूध पिलानेवाले जीवो मे बुद्धि बरावर पाई जाती है चाहे वह मनुष्यबुद्धि से कम हो। पशुओ मे बुद्धिविकाश का तारतम्य उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार मनुष्यो में। किसी सभ्यदेश के उद्भट दार्शनिक की बुद्धि और नरभक्षी असभ्य बर्बर की बुद्धि मे भी तो अंतर होता है। बस, उतना ही अंतर असभ्य बर्बर की बुद्धि मे और उन्नत पशुओ (वनमानुस आदि) की बुद्धि मे समझिए। मनुष्य के उन्नत मनोव्यापार (विवेचन आदि) भी ठीक उसी प्रकार वंशपरपरा और स्थितिसामंजस्य के नियमाधीन है जिस प्रकार उन व्यापारों की इंद्रियाँ या मस्तिष्क।

बुद्धि, विवेचना आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापारो का

घनिष्ट संबंध वाणी की उन्नति से है। वाणी की योजना भी न्यूनाधिक क्रम से जीवो मे पाई जाती है। यह नही है कि एकमात्र मनुष्य ही को वह प्राप्त है। किसी न किसी रूप में वह समूह मे रहनेवाले समस्त मेरुदंडजीवो में थोड़ी वहुत पाई जाती है। एक दूसरे का अभिप्राय समझने के लिये उसकी आवश्यकता होती है। कहीं स्पर्श द्वारा, कही संकेत द्वारा और कहीं मुँह से निकले हुए शब्द द्वारा अभिप्राय प्रकट किया जाता है। पक्षियो और वनमानुसो की वोली, कुत्तो का भूँकना घोड़ो का हिनहिनाना इत्यादि पशुवाणी के नमूने है। इनसे कुछ न कुछ भाव अवश्य प्रकट होता है। पर मनुष्य ही मे उस वर्णविकाशयुक्त वाणी का प्रादुर्भाव हुआ है जिसके सहारे उसकी वुद्धि इस उन्नति को पहुँची है। भापाविज्ञान ने यह पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है कि भिन्न भिन्न मनुष्यजातियो की जितनी समृद्ध भापाएँ है सव की सव किसी न किसी सीधी सादी आदिम भाषा से धीरे धीरे उन्नति करती हुई वनी है। भाषा का विकाश भी ठीक उसी क्रम से धीरे धीरे हुआ है जिस क्रम से जीवो की जातियो का विकाश, उनकी इंद्रियो और शक्तियो का विकाश। पशुवाणी और मनुष्यवाणी मे केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नही।

अंतःकरण के उन व्यापारो का विचार भी जो उद्वेग कहलाते हैं मनोविज्ञान मे अत्यंत आवश्यक है। उनके द्वारा वह संवंध अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है जो मस्तिष्क-व्यापारो और शरीर के दूसरे व्यापारो (जैसे, हृदय की धड़कन, इंद्रियो के क्षोभ, और पेशियों की गति) के वीच है। मनुष्य में

अंत करण के उद्वेगसंबंधी जो व्यापार दिखाई देते हैं वे कुत्ते, वनमानुस आदि उन्नत पशुओ में भी देखे जाते हैं। समस्त उद्वेग इंद्रियसंवेदन और गति इन्हीं दो मूल व्यापारो के योग से प्रतिक्रिया और अंत.संस्कार द्वारा बने हैं। राग और द्वेष का अनुभव इंद्रियसंवेदन क्रिया के अंतर्गत है। इच्छा और विरक्ति, अर्थात् रुचिकर वस्तु की प्राप्ति और अरुचिकर के परिहार का प्रयत्न, (पेशियों की) गति के अंतर्भूत है। 'आकर्षण' और 'विसर्जन' इन्ही दोनों क्रियाओ के द्वारा 'संकल्प' की सृष्टि होती है जो व्यक्ति का प्रधान लक्षण है। मनोवेग मनुष्य और पशु दोनों में होते है। क्षुद्र से क्षुद्र कोटि के अणुजीवो में भी रुचि और अरुचि का मूल संस्कार होता है जिसका पता उनकी प्रवृत्तियो से लगा है। उनमे कुछ प्रकाश की ओर प्रवृत्त होते हैं, कुछ अधकार की ओर, कुछ शीत की ओर और कुछ ताप की ओर। इन्ही मूल वासनाओं से आगे चल कर उन्नत अंत.करणवाले सभ्य मनुष्यो के उल्लास और खेद, प्रीति और घृणा आदि मनोवेग निकले हैं जिनसे सभ्यता का विकाश हुआ है और कवियो को अक्षय सामग्री प्राप्त हुई है। इस प्रकार क्षुद्र से क्षुद्र अणुजीवस्थ मनोरस की मूलवासना से लेकर मानव अंत.करण के विविध मनोवेगो तक संबंधसूत्र की परंपरा चली गई है। मनुष्य के मनोवेग भी भौतिक नियमों के अधीन हैं यह बात कई दार्शनिक सिद्ध कर चुके हैं।

अब संकल्प को लीजिए जिसे लोग जीवधारियों की एक ऐसी विशेषता समझते हैं जिसका भौतिक नियमों से कोई

संबंध नहीं। इच्छानुसार गति देख कर ही सामान्यतः कर्म-संकल्प की स्वतंत्रता का भान लोगों को होता है। पर विकाश सिद्धांत और शरीरशास्त्र की दृष्टि से यदि संकल्प की परीक्षा की जाय तो मालूम होगा कि वह मनोरस का एक व्यापक गुण है। एक घटक अणुजीवो मे प्रतिक्रिया के जो जड़ व्यापार हम देखते है वे उन मूल प्रवृत्तियो से उत्पन्न है जिनका जीवन तत्त्व से नित्य संबंध है। पौधो तक मे ये प्रवृत्तियॉ पाई जाती है। कुछ पौधे अपनी पत्तियो को जिस ओर प्रकाश होता है उसी ओर प्रवृत्त करते हैं। जिन जीवो मे प्रतिक्रिया का त्रिघटकात्मक करण होता है अर्थात् संवेदनग्राहक घटक और क्रियोत्पादक घटक के वीच मे एक तीसरे मनोघटक की स्थापना होती है, उन्हींमे संकल्प नामक व्यापार देखा जाता है। क्षुद्र जीवो मे यह संकल्प अचेतन रूप मे रहता है। जिन जीवो मे चेतना होती है अर्थात् अंतःकरण की क्रिया का प्रतिविंव अंतःकरण मे पड़ता है उन्हींमे संकल्प उस कोटि का देखा जाता है जिसमे स्वतंत्रता का आभास जान पड़ता है। मस्तिष्क के विकाश और अंतःकरण की उन्नति के कारण संवेदन, गति आदि की आंतरिक क्रियाऍ जितनी ही क्षिप्र होती जाती है उनका परस्पर संवंध उतना ही अव्यक्त होता जाता है। संवंध के अव्यक्त होने के कारण ही स्वातंत्र्य की भ्रांति होती है। पर अब यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया है कि संकल्प किया हुआ प्रत्येक कर्म व्यक्ति के अंगविन्यास और प्राप्त परिस्थिति के अनुसार ही होता है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप तो वंशपरंपरानुसार पूर्वजो द्वारा प्राप्त होकर पहले से निर्धारित रहता है। कर्म विशेष

का जो संकल्प होता है वह जिस क्षण जैसी परिस्थिति होती है उसके अनुकूल परिवर्त्तन का आयोजन मात्र है। उस क्षण जो मनोवेग सब से प्रबल होता है उसीके अनुसार प्राणी कर्म करता है। *

---

* कर्मस्वातंत्र्य के विषय में धार्मिकों में भी मतभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि ईश्वर की प्रेरणा ही से मनुष्य सब कार्य्य करता है। कुछ लोग कर्मों की वासना पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मानते हैं। पर अधिकांश लोग यही मानते हैं कि मनुष्य की कर्मसंकल्पवृत्ति सर्वथा स्वतंत्र है। यह बतला देना भी आवश्यक है कि कर्मसंकल्पवृत्ति को 'इच्छा' का पर्य्याय न समझना चाहिए।

कर्मस्वातंत्र्य को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों में बहुत विवाद हुआ है। कांट ने कर्म संकल्पवृत्ति को सर्वथा स्वतंत्र बतलाया है और कहा है कि मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार उसका विचार नहीं हो सकता। अंतःकरण की कोई ऐसी वृत्ति नहीं जिससे उसका कार्यकारण संबंध हो, जो उसे अवश्य उत्पन्न ही करती हो। रहे बाह्य जगत् के नियम उनसे भी वह बद्ध नहीं। वह उन स्वप्रवर्तित नियमों को ही मानती है जिन्हें 'धर्मनियम' कहते हैं (दे० प्रकरण १९)। स्पिनोजा और ह्यूम कर्मसंकल्पवृत्ति को कार्य-कारण संबंध के अंतर्गत मानते हैं। स्पिनोजा ने कहा है कि लोगों का यह समझना भ्रम है कि कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं। बात यह है कि उन्हें अपने कर्मों का बोध तो होता है पर उन कारणों का बोध नहीं होता जिनके द्वारा वे निर्धारित होते हैं। हैकल ने स्पिनोजा

आठवाँ प्रकरण।

आत्मा का गर्भविकाश।

मनुष्य की आत्मा को हम चाहे जिस रूप का समझे पर यह निश्चित है कि उसकी भी जीवनकाल मे क्रम क्रम से वृद्धि होती है। अतः मनोव्यापारो के निरूपण के लिए गर्भविधान

के तत्वाद्वैतवाद ही का अनुसरण किया है अतः उसने इस विषय मे उसी का सिद्धात मान्य ठहराया है।

भारतीय विचारपद्धति मे 'कर्मबधन' और 'आत्मस्वातन्त्र्य' की बडी गूढ व्याख्या की गई है। वेदातसूत्र के 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' मे जीव कर्ता अर्थात् कर्म करने मे स्वतत्र है या नहीं इसका विचार किया गया है। कर्मविपाक मे सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण- ये तीन भेद कर्म के किए गए हैं जिससे सिद्ध होता है कि एक कर्म बीज रूप से दूसरे को उत्पन्न करता है। फिर 'आत्मस्वातन्त्र्य' या कर्मसकल्पवृत्ति का स्वातन्त्र्य कहॉ रहा? वेदात ज्ञान द्वारा मोक्ष बतलाता है। पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य स्वतत्र नहीं। वेदाती इसका उत्तर कर्म के 'आरब्ध' और 'अनारब्ध' दो भेद कर के इस प्रकार देते है कि आरब्ध कर्म, जिनका भोग आरभ हो चुका है, वे तो भोगने ही पड़ेगे पर अनारब्ध कर्मों का ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। 'कर्मबंधन' के साथ सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का स्वातन्त्र्य भी बराबर रहता है। यही आत्मस्वतन्त्र्य है।

की परीक्षा अत्यंत प्रयोजनीय है। हमे भ्रूण के मस्तिष्कविकाश और शिशु के मनोव्यापारो की ओर ध्यान देना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार न करनेवाले आत्मा की क्रमशः वृद्धि नही मानते। वे आत्मा को सदा एकरस मानते है। आत्मा के संबंध मे जो भिन्न भिन्न प्रकार के विचार प्रचलित हैं उनमे से कुछ ये है—

(१) आवागमन—इस सिद्धांत के अनुसार आत्मा एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर मं, दूसरे से तीसरे मे इसी प्रकार बराबर गमन करती रहती है और नाना योनियो मे भ्रमण करती है। वह मनुष्ययोनि मे भी आ जाती है और फिर उसमे से निकल कर मनुष्य या और कोई योनि प्राप्त करती है।

(२) आनयन—अर्थात् आत्माओ का कही अक्षय्य भांडार है जहाँसे बराबर आत्माएँ शरीरो मे लाई जाती है और जहाँ फिर चली जाती है।

(३) ईश्वर द्वारा सृष्टि—ईश्वर आत्माओ की सृष्टि करता है और उन्हे संचित रखता है।

जीवनतत्त्व के अनुसंधान द्वारा ऊपर लिखी कल्पनाएँ असार प्रमाणित हो चुकी है। पहले कहा जा चुका है कि गर्भविधान मे पुंस्तत्त्व और स्त्रीतत्त्व दोनो सूक्ष्म घटक मात्र है। इन दोनो घटको में ऐसे शारीरिक गुण होते है जिन्हे हम घटकात्मा कह सकते है। इन दोनो बीजघटको मे गति और संवेदन शक्ति होती है। गर्भांड या अंडघटक जल मे रहने वाले अस्थिराकृति अणुजीवो के समान चलते फिरते है। अत्यंत सूक्ष्म शुक्रकीटाणु अपनी रोइयो के सहारे वीर्य मे उसी

प्रकार तैरते रहते हैं जिस प्रकार रोईवाले समुद्र के सूक्ष्म कीटाणु।

स्त्री पुरुष का संयोग होने पर जब दोनों वीजघटक परस्पर मिलते है (अथवा उनका संयोग वाहर ही वाहर होता है जैसा कि कुछ जलजंतुओ में) तब दोनो एक दूसरे की ओर आकर्षित होकर जुट जाते है। इस आकर्षण का प्रधान कारण कललरस की रासायनिक और संवेदनात्मक क्रिया है जो घ्राण या रसन से मिलती जुलती होती है और 'अनुरागमूलक रासायनिक प्रवृत्ति' कहलाती है। इसे हम घटको का प्रेम-व्यापार भी कह सकते है। पुरुष के वीर्य्य में रहनेवाले वहुत से रोईदार घटक (शुक्रकीटाणु) स्त्री के अंडघटक की ओर रेग पड़ते है और उसमे घुसना चाहते है। पर इनमे से घुसने पाता है कोई एक ही। ज्यो ही कोई शुक्रकीटाणु गर्भांड मे सिर के वल घुसा कि गर्भांड के ऊपर की झिल्ली छूट कर एक आवरण के रूप मे हो जाती है जिससे और कोई शुक्रकीटाणु भीतर नही घुस सकता। एक वैज्ञानिक ने वर्फ या मरफिया के प्रयोग से गर्भांड का ऊपरी तल कठोर कर दिया जिससे यह झिल्ली नही छूटने पाई। फल इसका यह हुआ कि गर्भांड अतिगर्भित हो गया अर्थात् उसमे कई शुक्रकीटाणु घुस पड़े। इन वातो से पाया जाता है कि वीजघटको में भी एक प्रकार की आंतरिक प्रवृत्ति या संवेदना होती है। गर्भांड और शुक्र-कीटाणु जव परस्पर मिल कर एक हो जाते हैं तव अंकुरघटक की उत्पत्ति होती है जिसके उत्तरोत्तर विभाग द्वारा अनेकघटक भ्रूण का स्फुरण होता है।

गर्भविधान की ओर ध्यान देने से हमें मनोविज्ञानसंबंधी कई महत्त्व की बातों का आभास मिलता है। इस प्रकार के अनुसंधान द्वारा ये पाँच सिद्धांत निकलते हैं—

(१) जीवन के आरंभ मे प्रत्येक मनुष्य या उन्नत जंतु एक अत्यंत सूक्ष्म घटक के रूप में होता है।

(२) सब उन्नत जीवो में अंकुरघटक की उत्पत्ति समान विधान से अर्थात् दो बीजघटकों के परस्पर एक हो जाने से होती है।

(३) दोनों बीजघटकों मे से प्रत्येक को एक घटकात्मा होती है—अर्थात् दोनों में एक विशेष रूप की संवेदना और गति होती है।

(४) गर्भाधान के समय दोनों घटकों के कललरस और बीज ही मिल कर एक नहीं हो जाते बल्कि उनकी घटकात्माएँ भी परस्पर मिल जाती हैं अर्थात् दोनों में जो निहित या अव्यक्त गतिशक्तियाँ (और द्रव्यों के समान) होती हैं वे भी एक नवीन शक्ति की योजना के लिए मिल कर एक हो जाती हैं। अंकुरघटक की यह नवन्योजित शक्ति ही 'बीजात्मा' है।

(५) अतः प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक और मानसिक गुण माता-पिता से ही प्राप्त होते हैं। वंशक्रमानुसार माता के गुणों का कुछ अंश गर्भांड द्वारा और पिता के गुणों का कुछ अंश शुक्रकीटाणु द्वारा प्राप्त होता है।

इन सिद्धांतों के द्वारा यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आदि होता है। दोनों बीज-घटकों का जिस घड़ी संयोग होता है वही घड़ी अंकुरघटक के शरीर और आत्मा दोनों की उत्पत्ति की है। अतः लोगों का यह कहना कि आत्मा अनादि और अमर है प्रलाप मात्र है। इसी प्रकार यह भावना भी असंगत है कि गर्भ के भीतर ईश्वर शरीर को गढ़ता है। जीवन की उत्पत्ति माता पिता के संयोग से होती है। इस संयोग के लिए यह आवश्यक है कि शुक्रकीटाणु का गर्भाशय में प्रवेश हो, दर्शन या आलिंगन मात्र से गर्भाधान नहीं हो सकता। स्थलचारी जीवों में गर्भाधान की यही रीति है कि गर्भाशय में गर्भोत्पादक तत्त्व पहुँचाया जाय। कुछ क्षुद्र जलचर जंतुओं में दूसरे प्रकार की व्यवस्था है। उनमें नर मादा अपना अपना वीर्य और रजोबिंदु जल में डाल देते हैं जिनका संयोग बाहर ही बाहर किसी अवसर पर हो जाता है। ऐसे जंतुओं में वास्तविक मैथुन नहीं होता, अतः उनमें प्रेम का वह मानसिक उद्गार नहीं देखा जाता जो उन्नत जीवों में इतना अधिक पाया जाता है। क्षुद्र अमैथुनीय जंतुओं में स्त्री-पुरुष-भेदसूचक कुछ ऐसे चिह्न भी नहीं होते जैसे बारहसिंगों के सींग, पुरुषों की दाढ़ी, नरमोर का सुंदर चित्रित पुच्छवितान।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिशु माता और पिता दोनों के मानसिक गुण ग्रहण करता है। दोनों के स्वभाव, लक्षण, संकल्प की दृढ़ता, प्रतिभा आदि गुण उसमें वंशपरंपरा के प्राकृतिक नियमानुसार आते हैं। माता-पिता के ही नहीं

पितामह आदि के कुछ गुण भी उसमे बराबर पाए जाते हैं। सारांश यह कि शारीरिक विशेषताओ के समान मानसिक विशेषताएँ भी वंशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे मे जाती है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वंशपरंपरा का प्राकृतिक नियम भी एक शरीरधर्म है जिसका निर्धारण भौतिक और रासायनिक क्रियाओ के अनुसार—कललरस की योजना के अनुसार—होता है।

शरीर-विज्ञान संबंधी यह बात मनोविज्ञान के क्षेत्र मे बहुत ध्यान देने की है कि मनस्तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे बराबर चला चलता है। जिस क्षण गर्भाधान होता है उसी क्षण एक नए जीव का प्रादुर्भाव होता है। पर इस नए जीव मे कोई स्वतंत्र शारीरिक और मानसिक सत्ता नही होती, यह शुक्रघटक और रजोघटक रूप दो उपादानो की योजना का परिणाम मात्र है। जिस प्रकार मनोव्यापार-रूपिणी निहित शक्ति के भौतिक आधार उक्त दोनो घटको की गुठलियो के मेल से एक नई गुठली पैदा हो जाती है उसी प्रकार दोनो घटकात्माओ के योग से निहित शक्तियो की समष्टिरूप एक नई घटकात्मा बन जाती है। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि एक ही मातापिता से उत्पन्न दो शिशुओ के स्वभाव आदि मे भेद क्यो दिखाई पड़ता है? इसके कई कारण है। पहली बात तो यह है कि यह भेद कुछ न कुछ दोनो बीजघटको में ही—उनके कललरस की योजना मे ही—रहता है। माता-पिता अपने जीवन मे स्थिति के परिवर्त्तन के अनुरूप जो नई नई विशेषताएँ प्राप्त करते जाते हैं उनका प्रभाव बीजघटको के

अण्वात्मक कललरस के विधान पर भी उलट कर पड़ता है और उनके द्वारा संयोयित संतति मे देखा जाता है।

इस विभेद के संबंध मे एक बात और है। यद्यपि गर्भाधान के समय दो आत्माओ का जो संमिश्रण होता है उसमें दोनो घटको के अनुरागात्मक संयोग द्वारा केवल जनक-जननी की आत्माओ की निहित शक्तियो की ही संप्राप्ति अधिकतर शिशु को होती है पर ऐसा भी होता है कि और ऊपर की पीढ़ियो के पूर्वजो के मानसिक संस्कार भी साथ ही उसे प्राप्त हो जाते है। कुलपरंपरासंबंधी प्राकृतिक नियम आत्मा पर भी ठीक वैसे ही घटते हैं जैसे अंगविधान पर। छत्रक आदि समुद्र के उद्भिदाकार कृमियो मे एक एक पीढ़ी का अंतर दे कर पूर्वजो की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। एक कृमि से जो दूसरा कृमि उत्पन्न होगा उसमे पहले का लक्षण न होगा, उस दूसरे से जो तीसरा उत्पन्न होगा उसमे पहले के लक्षण मिलेगे, फिर उस तीसरे के लक्षण पाँचवी पीढ़ी मे मिलेगे, पाँचवी के सातवी मे, इसी प्रकार यह क्रम बराबर चला चलेगा। इसी नियम के अनुसार दूसरी पीढ़ी के लक्षण चौथी मे, चौथी के छठी मे, छठी के आठवी मे मिलेगे। मनुष्य आदि उन्नत जीवो मे यद्यपि इस प्रकार के अंतर का नियम नहीं है पर उनमे भी कभी कभी एक पीढ़ी का अंतर दे कर लक्षण प्रकट होते है, जिसका कारण वंशपरंपरा का निहित नियम है। बड़े बड़े लोगो मे प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उनके गुण और स्वभाव उनके पितामहों से मिलते है।

आत्मविकाश की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—एक गर्भावस्था, दूसरी जीवनावस्था।

गर्भ में आत्मोपत्ति—मनुष्य का गर्भ साधारणतः नौ महीनों में पूरा होता है। इस वीच में वाहरी संसार से वह विलकुल अलग रहता है और उसकी रक्षा के लिये केवल गर्भकोश ही नहीं रहता, आवरण की तरह लिपटी हुई झिल्लियाँ भी होती हैं। ये झिल्लियाँ सव सरीसृपो, पक्षियो और स्तन्य-जीवो मे होती हैं। इन समस्त जीवों के भ्रूण झिल्लियो के जल-पूर्ण कोश मे रहते हैं। आघात से रक्षा का यह आयोजन आदिम सरीसृपो ने अत्यंत प्राचीन कल्प में प्राप्त किया था जव कि वे जल मे न रह कर जमीन पर घूमने और साँस लेने लगे थे। उनके पूर्वज जलस्थलचारी जंतु (मेढक आदि) अपने पूर्वज मत्स्यों के समान जल ही में रहते और साँस लेते थे।

उन रीढ़वाले जंतुओ के भ्रूण में जो जल मे रहते थे आदिम जीवो के वहुत अधिक लक्षण वहुत अधिक काल तक रहते थे जैसा कि आज कल की मछलियो और मेढकों में देखा जाता है। यह वात प्रायः सव लोग जानते है कि अंडे से निकलने के वाद मेढको के भ्रूण लंवी पूँछवाले कीड़ों के रूप मे होते हैं और केवल जल ही में तैरा करते है। इन वच्चो को साधारण भाषा मे छुछमछली कहते है। इनमें इनके पूर्वज मत्स्यो का ढाँचा वहुत काल तक वना रहता है। इनकी रहन सहन और संवेदना भी उन्हींकी सी होती है। ये गलफड़ों के द्वारा साँस लेते हैं। फिर जव कुछ दिनो के उपरांत इनका विलक्षण

रूपांतर या कायाकल्प होता है और इनका अंगविधान स्थल-चारी जीवन के अनुकूल संघटित होता है तब इनका मत्स्याकार शरीर कूदनेवाले चतुष्पद मेढक के रूप मे परिवर्तित्त हो जाता है। फिर तो गलफड़ो द्वारा पानी में सॉस लेने के बदले ये फेफड़ो के द्वारा स्थल पर सॉस लेने लगते है, इनकी इंद्रियॉ और अंतःकरण अर्थात् सारा विज्ञानमय कोश अधिक उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि हम छुछमछली के आत्मस्फुरणक्रम को आदि से अंत तक ध्यानपूर्वक देखे तो पता लगे कि जीवनोत्पत्ति के सामान्य नियम किस प्रकार आत्मविकाश के क्रम पर भी ठीक ठीक घटते हैं। बात यह है कि छुछमछली की वृद्धि का बाह्य संसार की उस बदलने वाली परिस्थिति से सीधा लगाव होता है जिसके अनुकूल उसकी संवेदना और गति मे परिवर्त्तन उपस्थित होता है। तैरनेवाली छुछमछली का ढॉचा ही नहीं रहनसहन भी मछली ही की सी होती है, मेढक के लक्षण उसमे परिवर्त्तन के उपरांत आते है।

मनुष्य के भ्रूण मे ऐसा नही होता। झिल्लियो के कोश में बंद रहने के कारण वह बाह्य संसार के प्रभावो से अलग रहता है और बाह्य परिस्थिति के अनुरूप प्रतिक्रिया उसमे स्वच्छंद रूप से नही होने पाती। जलपूर्ण कोश के भीतर रक्षापूर्वक बंद रहने के कारण मनुष्य आदि के भ्रूण मे आदिम जीवों के लक्षणो का उत्तरोत्तर विकाश पूर्णरूप से नहीं होने पाता। अत्यंत संक्षिप्त उद्धरणी के द्वारा ही उसे नए जीव का स्वरूप प्राप्त होने का सुगम साधन प्राप्त हो

जाता है। पहली बात तो यह है कि इसमें भ्रूण के पोषण का पूर्ण प्रबंध रहता है। यह पोषण अंडजों में तो उस जरदी के द्वारा होता है जो अंडों के भीतर रहती है। जरायुजों में जरायु के द्वारा माता के रक्त का जो संचार भ्रूण में होता है उसके द्वारा उसका पोषण पूर्ण रूप से होता है। अतः इनका भ्रूण धरती पर गिरने के पहले ही पूर्ण वृद्धि को प्राप्त रहता है। इस गर्भावस्था में भ्रूण की आत्मा सुषुप्तावस्था में रहती है। इसी प्रकार की सुषुप्ति उन कीड़ों के कायाकल्प-काल में रहती है जिनका रूपांतर होता है। तितलियाँ, मक्खियाँ, गुबरैले, रेशम के कीड़े इत्यादि जब ढोले से फतिंगे के रूप में आने लगते हैं तब इसी प्रकार की सुषुप्त दशा में रहते हैं। इस सुषुप्तिकाल के बीच उनके तंतुओं और विविध अंगों का निर्माण होता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस काया-कल्प-काल के पूर्व जब ये ढोले के रूप में रहते हैं तब उनमें इन्द्रियों और अंतःकरण के व्यापार अच्छी तरह दिखाई पड़ते हैं। फिर इस सुषुप्तावस्था के टूट जाने पर जब इन कीड़ों का पूर्ण कायाकल्प हो जाता है और ये पूर्ण यौवनप्राप्त फतिंगों के रूप में उड़ने लगते हैं तब ये मनोव्यापार और भी उन्नत रूप में देखे जाते हैं।

मनुष्य के मनोव्यापार की भी जीवनकाल में कई अवस्थाएँ होती हैं। जिस प्रकार उसका शरीर शैशव, कुमार, पौगंड, यौवन और जरा नामक चढ़ती उतरती की अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त होता है उसी प्रकार उसकी आत्मा या मनोव्यापार भी।

नवाँ प्रकरण ।

आत्मा का वर्गपरंपराक्रम से विकाश ।

यह सिद्धांत अब पूर्णतया स्थिर हो गया है कि मनुष्य का शरीर अनेक पूर्वज जंतुओ के शरीर से परंपरानुसार परिवर्त्तित होते होते उत्पन्न हुआ है । अतः उसके मनोव्यापारो को हम उसके और शारीरिक व्यापारो से अलग नहीं कर सकते । हमे यह मानना पड़ता है कि शरीर और मन दोनो का विकाश क्रमशः हुआ है । अतः मनोविज्ञान मे यह देखना अत्यंत आवश्यक है कि किस प्रकार पशु की आत्मा से क्रमशः मनुष्य की आत्मा का विकाश हुआ है । आत्मा के जाति-परंपरागत विकाशक्रम का निरूपण मनस्तत्त्व विद्या का प्रधान अंग है । एक जाति के जंतु से विकाश द्वारा दूसरी जाति के जंतु की जो दीर्घपरंपरा चली आई है उसके अन्वेषण के द्वारा आत्मा के विकाशक्रम का भी बहुत कुछ पता चलता है ।

मनुष्य के मनोव्यापारो का दूसरे जरायुज जंतुओं के मनोव्यापारों से यदि एक एक कर के मिलान करे तो पता लगेगा कि बनमानुस की आत्मा से ही कुछ और उन्नत अवस्था को प्राप्त मनुष्य की आत्मा है । समस्त रीढ़वाले जंतुओ में मनोव्यापारो का प्रधान करण मेरुरज्जु होता है ।* यह मेरुरज्जु

---

* यह मेरुरज्जु भेजे की बत्ती के रूप का होता है और मस्तिष्क से ले कर पीछे की ओर मेरुदंड के बीचोबीच से होता हुआ नीचे तक गया रहता है ।

विना रीढ़वाले पूर्वज कीड़ो की उस खड़ी संवेदनसूत्रग्रंथि का प्रवर्द्धित रूप है जो चिपटे केचुओ की गर्भझिल्ली (अर्थात् घटको की परत) से उन्नत अवस्था को प्राप्त हो कर वनी है। चिपटे केचुओ † के अंगविश्लेषण द्वारा इस वात का पता लग जाता है। इन आदिम जीवो के कोई अलग संवेदनसूत्रमय विज्ञानकोश नही होता, इनके ऊपर का सारा चमड़ा ही संवेदनग्राही और मनोव्यापारसाधक होता है। ये अनेकघटक कीट परस्पर गुछकर झिल्ली के रूप मे नियोजित होनेवाले अणुजीवों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा वने हैं। भिन्न भिन्न जंतुओ के गर्भविधान की परीक्षा करने से इनके योजनाक्रम का पता चलता है। परस्पर मिल कर झिल्ली या आवरण वनानेवाले ये कलात्मक अणुजीव आदिम एकघटक अणुजीवो से ही उत्पन्न हुए है। गर्भ के भीतर एक घटक वा अणुजीव से जिस प्रकार अनेक घटको के कलात्मक समवाय की सृष्टि होती है और फिर उससे उत्त-रोत्तर उन्नत अवस्थाओ का क्रमशः विधान होता है यह खुर्द-वीन (सूक्ष्मदर्शक यंत्र) के द्वारा देखा जा सकता है। इस परीक्षा द्वारा आत्मा के विकाश का जो क्रम निर्धारित होता है उसके अनुसार आत्मा आठ मुख्य अवस्थाओ से होती हुई मनुष्य की आत्मा का उन्नत रूप प्राप्त करती है। इन पूर्वापर अवस्थाओ के सूचक आठ प्रकार के जो जीव पाए जाते हैं वे ये हैं—

---

† एक प्रकार के चिपटे केचुए जानवरो के पेट या कलेजे मे भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(१) एकघटक अणुजीव जिन्हे एक अत्यंत क्षुद्र कोटि की घटकात्मा मात्र होती है—जैसे जल मे रहनेवाले रोईदार अणुजीव *।

(२) समूहबद्ध अनेकघटक क्षुद्रजीव जो बहुत से मिलकर एक विशेष आकार के पिड बना कर रहते है, जैसे स्पंज। ये यद्यपि मिलकर बिलकुल एक जीव नही बन जाते तो भी इनमें एक प्रकार का संबंध रहता है। एक अणुजीव के त्वक् पर जो क्षोभ पहुँचाया जायगा उसका प्रभाव सारे समूह पर पड़ेगा। ऐसे जीव जल मे पाए जाते है। इनकी आत्मा को समूहबद्ध आत्मा कह सकते है।

(३) आदिम अनेकघटक जीव जिनका शरीर कई घटकों के मिलकर सर्वथा एक शरीर-कोश हो जाने से बना है—जैसे चिपटे केचुओ का वर्ग †।

* ये अणुजीव एक इन्च के शताश के बराबर होते है और ताल आदि के स्थिर जल मे अपना रोइयो के सहारे तैरते फिरते है। ये एक लबी थैली के रूप के होत है। इनमे स्फुट इंद्रियाँ आदि नहीं होती। पेट की ओर कुछ दबा हुआ स्थान होता है जिसमे एक ओर से जल भीतर जाता है और दूसरी ओर से निकलता है। भीतर जो कललरस का चेप रहता है उसमे जल का पोषक अश (और भी सूक्ष्म वनस्पति आदि) मिल जाता है। जब यह जीव किसी प्रकार उद्विग्न या क्षुब्ध होता है तब अपने त्वक् के भीतर से चारो ओर लबे लबे सूत निकालता है। सड़ाव के कीड़े इसी प्रकार के होते है।

† ये केंचुए कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश तो जतुओ के पेट मे पड़ते हैं, कुछ समुद्र के जल में या दलदलो में पाए जाते है।

(४) विनारीढ़ वाले आदिम जीव जिनमे मास्तिष्क या अंत:करण एक खड़ी सूत्रग्रंथि के रूप मे होता है—जैसे, जोंक आदि का वर्ग।

(५) ऐसे रीढ़वाले जंतु जिन्हे कपाल या मस्तिष्क नहीं होता केवल एक सादा मेरुरज्जु होता है—जैसे, अकरोटी मत्स्य * या कुलाट।

(६) कपाल और पंचघटात्मक मस्तिष्कवाले जंतु—जैसे, मछली।

(७) ऐसे स्तन्य जंतु जिनके मस्तिष्क का तल उन्नत अवस्था को प्राप्त रहता है। जैसे, जरायुज वर्ग (कुत्ते, बिल्ली आदि)।

(८) वनमानुस और मनुष्य जिनके मस्तिष्क के भेजे में मेधाशक्ति होती है।

ऊपर लिखे हुए जीवों की सृष्टि भिन्न भिन्न कल्पो मे एक दूसरे के पीछे क्रमशः हुई है। इनमे जिस क्रम से मनस्तत्त्व का विकाश हुआ है वह नीचे दिया जाता है—

(१) घटकात्मा (या अंकुरात्मा)। जीववर्गों के बीच मनोविकाश की यह प्रथमावस्था है। ऊपर कहा जा चुका

---

* चार अगुल लबा एक कीडा जो देखने मे जोक की तरह का होता है। इसमे विशेषता यह है कि इसके शरीर मे एक प्रकार की लचीली कोमल रीढ होती है जिसे सूत्रदंड कह सकते हैं पर कपाल या मस्तिष्क नहीं होता। यह कीड़ा समुद्र तट पर बालू में बिल बना कर रहता है और पानी में खड़ा तैरता है।

है कि मनुष्य तथा और सब जीवों के सब से आदिम पूर्वज एकघटक अणुजीव थे। जिस क्रम से मनुष्य आदि प्राणी अपने पूर्ववर्त्ती जंतुओ से परिवर्त्तनपरंपरा द्वारा निकल कर अपने वर्त्तमान रूप मे आए है उसका पता प्रत्येक प्राणी के भ्रूणाविकाशक्रम को देखने से लग जाता है। और सब अनेक-घटक जीवो के समान मनुष्य भी गर्भाशय के भीतर एक क्षुद्र घटक से जिसे अंडघटक वा अंकुरघटक कहते है अपने जीवन का आरंभ करता है। जैसे इस घटक मे आरंभ ही से एक प्रकार की आत्मा होती है वैसे ही अत्यंत प्राचीन कल्प के उन पूर्वज अणुजीवो मे भी थी जिनसे विकाशक्रमानुसार मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

एकघटक जीवों के मनोव्यापार किस प्रकार के होते हैं इसका पता आज कल पाए जानेवाले एकघटक अणुजीवों के शरीरविधान आदि को देखने से लग सकता है। इन अणु-जीवो के अन्वीक्षण से बहुत सी नई नई बातो का पता लगा है। वरवर्न नामक एक जरमन जीवविज्ञानवेत्ता ने अनेक प्रकार से परीक्षा कर के बतलाया है कि 'एकघटक अणुजीवों के समस्त मनोव्यापार अचेतन अर्थात् अज्ञानकृत होते है, उन मे जो संवेदना और गति देखी जाती है वह कललरस की कणिकाओं के धर्मानुसार होती है। एकघटक अणुजीवो के मनोव्यापार जड़-द्रव्य की रासायनिक क्रियाओ ('जैसे अणु-ओ का आकर्षण विश्लेषण आदि) और उन्नत जंतुओ की अंतःकरण-वृत्तियो के बीच की शृंखला के समान हैं। उन्हें

मनुष्य तथा और अनेकघटक जीवों के उन्नत मनोव्यापारों का वीज समझना चाहिये।

जल मे रहनेवाले भिन्न भिन्न प्रकार के एकघटक कीटाणुओ की परीक्षा करके मैंने कुछ दिन पहले यह मत प्रकट किया था कि प्रत्येक सजीव घटक में कुछ मानासिक वृत्तियाँ होती हैं, और अनेकघटक जीवों और पौधों की मानसिक वृत्ति उन घटको की मानसिक वृत्तियो की समष्टि है जिनकी योजना से उनका शरीर संघटित रहता है। स्पंज आदि क्षुद्र कोटि के अनेकघटक जीवो में शरीर का प्रत्येक घटक मानसिक क्रिया मे समान रूप से प्रवृत्त होता है पर उन्नत कोटि के जीवों मे कार्यविभाग के नियमानुसार कुछ चुने हुए घटक ही इस क्रिया के लिये नियुक्त हो जाते है और मनोघटक कहलाते हैं।

घटकात्मा की भी ऊँची नीची कई श्रेणियाँ होती हैं। कुछ का व्यापार तो अत्यंत सीधासादा होता है और कुछ का जटिल होता है। सव से आदिम और क्षुद्र कोटि के एकघटक जीवो में संवेदन और गतिशक्ति घटकस्थ कललरस में सर्वत्र एकरस होती है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते है अपने रसविंदु रूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते है। उन्नत कोटि के एकघटक अणुजीवो मे कुछ करणांकुर उत्पन्न हो जाते है जिनसे गति आदि व्यापार होते है। इस प्रकार के करण जल के कुछ सूक्ष्म कीटाणुओ मे स्थिर पादांकुरो या रोइयों के रूप मे देखे जाते हैं। इन कीटाणुओं के कललरस के मध्य मे एक सूक्ष्म गुठली होती है जिसे घटक का अंतःकरण समझना चाहिए। सव से आदिम वनस्पति और सव से

आदिम जंतु जो सृष्टि के बीच उत्पन्न हुए वे एकघटक थे। आज भी इस प्रकार के एकघटक जंतु और एकघटक वनस्पति पाए जाते हैं। जल के ये वनस्पति अत्यंत सूक्ष्म होते है, कोई कोई तो एक इंच के कई लाखवे हिस्से के बराबर होते हैं।

जल मे रहनेवाले रोईदार सूक्ष्म अणुजीवो मे उन्नत कोटि की घटकात्मा देखी जाती है। उनकी गतिविधि का यदि हम अनेकघटक प्राणियो की गतिविधि से मिलान करे तो बहुत कम अंतर मिलेगा। इन एकघटक अणुजीवो मे जो संवेदनग्राही और गतिसंपादक करणांकुर होते है वे वही काम करते है जो उन्नत जंतुओ का मस्तिष्क करता है। इन सूक्ष्म अणुजीवो का मनोव्यापार किस प्रकार का होता है इस विषय मे कुछ मतभेद है। कुछ वैज्ञानिको का कहना है कि इनमे जो स्वतः प्रवृत्ति होती है वह जड़ या उद्वेगात्मक (कलल-रस के स्वाभाविक क्षोभ से उत्पन्न) होती है और जो विषयो-त्तेजित गति देखी जाती है वह प्रतिक्रिया मात्र होती है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का कहना है कि इनके ये व्यापार कुछ कुछ ज्ञानकृत होते है अर्थात् इनमे थोड़ी बहुत चेतना का विकाश होता है। पर अधिकांश लोग इनमे चेतना या ज्ञान नही मानते। जो कुछ हो, हमारा प्रयोजन इतने ही से है कि इनमे एक प्रकार का समुन्नत मनस्तत्त्व या आत्मतत्त्व होता है।

(२) समूहबद्ध आत्मा—वर्गानुक्रमगत आत्मविकाश की यह द्वितीयावस्था है। मनुष्य तथा और दूसरे अनेकघटक प्राणियों की गर्भवृद्धि एक सूक्ष्म घटक के विभाग द्वारा आरंभ

होता है। यह सूक्ष्म अंकुरघटक पहले दो घटको मे विभक्त होता है, फिर दोनो घटक विभक्त होकर चार घटक हो जाते है। चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस, बत्तीस से चौसठ इसी प्रकार घटको की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि वे सब मिल कर सूक्ष्म बुद्बुदगुच्छ या शह-तूत का सा आकार धारण करते है। इस गुच्छ को कललगुच्छ कहते है। धीरे धीरे घटको के इस गुच्छे के बीच एक प्रकार का रस इकट्ठा हो जाता है और यह गुच्छा झिल्ली का एक कोश या घट बन जाता है। यह इस प्रकार होता है कि सारे घटक रस के ऊपर आकर एक झिल्ली के रूप मे जम जाते हैं जिसे मूलकला कहते हैं। इस कला द्वारा जो गोल कोश बनता है उसे अंकुरकोश या कललकोश कहते है।

कललकोश के निर्माण मे घटकसमूह के जो मनोव्यापार दिखाई पड़ते हैं वे कुछ तो संवेदन हैं और कुछ गत्यात्मक क्रियाएँ है। गति इसमे दो प्रकार की होती है—एक तो आभ्यं-तर गति जो विभाग के समय घटक की भीतरी गुठली के स्थितिपरिवर्त्तनक्रम मे देखी जाती है, दूसरी बाह्यगति जो घटको के स्थिति बदलने और परस्पर मिल कर झिल्ली बनाने मे देखी जाती है। हम इन गतियो को कुलपरंपरागत और अचेतन (अज्ञानकृत) मानते हैं। ये उन एकघटक अणुजीवो के धर्म है जिनसे समस्त बहुघटक प्राणियों का विकाश हुआ है। कुलपरंपरानुसार ये धर्म किसी न किसी रूप में अबतक प्रकट होकर कुछ काल तक रहते है। संवेदन भी दो प्रकार के होते हैं—(क) प्रत्येक घटक के पृथक्

पृथक् संवेदन और (ख) घटको के सारे समूह का एक सामान्य संवेदन जिसका पता सारे घटकों की उस सामान्य प्रवृत्ति से लगता है जिसके अनुसार वे सब के सब मिलकर एक कोश निर्माण करते है। जैसा कि कहा जा चुका है गर्भावस्था का यह कललघट वह रूप है जिस रूप मे सारे जंतुओ के आदिम पूर्वज किसी कल्प मे थे। इस प्रकार के घटकसमूह अबतक जल के रोईदार तथा और कई प्रकार के एकघटक अणुजीवो मे पाए जाते है। ये एकघटक जीव उसी प्रकार समूह बनाकर रहते है जिस प्रकार कललकोश के घटक।

(३) तंतुजालगत या समवाय आत्मा—वर्गपरंपरागत आत्मविकाश की यह तृतीयावस्था है। उन सब बहुघटक पौधो और जीवो मे जिनके घटक तंतुजाल के रूप मे मिलकर एक हो जाते है दो कोटि के मनोव्यापार देखे जाते है—(१) तंतुजाल के एक एक घटक की आत्मा का अलग अलग मनोव्यापार। और (ख) सारे तंतुजाल अर्थात् घटकसमष्टि का मनोव्यापार। मनोव्यापारो के इस समष्टिविधान से ही बहुत से घटक मिलकर एक शरीर हो जाते है। यह तंतुजालगत आत्मा या आत्मसमष्टि सारे घटको की पृथक् पृथक् घटकात्माओ को अंगागिभाव से चलाती है। निम्नकोटि के बहुघटक पौधो और जंतुओ मे आत्मा की यह दोहरी प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है। परीक्षा द्वारा इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते है। किसी पौधे को लेकर हम देख सकते है कि उसके प्रत्येक घटक की निज की संवेदना और गति भी होती है और साथ ही प्रत्येक तंतुजाल या अवयव का (जो कई समानधर्मवाले घटको के योग से संव-

टित रहता है) विशेष उत्तेजन और मनोधर्म भी होता है—दृष्टांत के लिये पौधो के पराग या परागकेसर को लीजिए।

(क) उद्भिदात्मा—यह बहुघटक पौधों की समस्त आंतरिक वृत्तियों का सारांश है। पहले पौधों और जंतुओं में बड़ा भारी भेद यह समझा जाता था कि जंतुओं मे आत्मा होती है और पौधो मे नहीं। पर घटकविधान और कललरसविधान का पता लग जाने से अब जंतुओ और पौधो की मूलयोजना की समानता सिद्ध हो गई है। आजकल के तारतम्यिक शरीर-विज्ञान ने अच्छी तरह दिखा दिया है कि बहुत से पौधो और क्षुद्र जंतुओ की प्रवृत्ति पर प्रकाश, ताप, विद्युत्प्रवाह, संघर्षण और रासायनिक क्रिया इत्यादि उत्तेजनो का प्रभाव समान पड़ता है और दोनों में इस प्रकार के उत्तेजन से एक ही ढंग की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। ऐसे उत्तेजनो से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया स्पंज, मूँगे के कृमि आदि मे उत्पन्न होती हैं उससे बढ़कर लज्जालु और मक्षिकाग्राही आदि पौधो मे देखी जाती है। अत. यदि एक की क्रिया को हम आत्मा की क्रिया मानते हैं तो दूसरे की क्रिया को भी आत्मा की क्रिया क्यो न मानें? जो लज्जालु छूने के साथ ही अपनी पत्तियो को बंद कर लेता और टहनियों को झुका लेता है, जो मक्षिकाग्राही पौधा पत्ते पर मक्खी बैठते ही उस पत्ते को दूसरे पत्ते के साथ जुटा कर मक्खी को फँसा लेता है उसमे स्पंज आदि की अपेक्षा अधिक संवेदन और गतिशक्ति हमे माननी पड़ेगी।

(ख) संवेदनसूत्र-रहित अनेकघटक जीवो की आत्मा—उन क्षुद्र बहुघटक जीवो के मनोव्यापार ध्यान देने

योग्य हैं जिनका शरीर तंतुजालमय तो होता है पर जिन्हे अलग संवेदनवाहक सूत्र नही होते। जल मे रहनेवाले घटकृमि चिपटे केचुए, स्पज तथा प्रवालकृमि इत्यादि सव से क्षुद्र कोटि के आशयविशिष्ट जीव इसी प्रकार के हैं।

घटकृमि आशयविशिष्ट जीवो मे सव से आदिम हैं। इन्हींसे और सव बहुघटक जीव उत्पन्न हुए है। इन कृमियो का क्षुद्र शरीर एक अंडाकार कोश या पात्र के रूप मे होता है जिसमे एक छोटा छिद्र होता है। कोश के भीतर का खाली स्थान उदर का, और छिद्र मुख का आदि रूप है। कोश दोहरी झिल्लियो का होता है। नीचेवाली झिल्ली उदराशय का आवरण है जिसके द्वारा पाचन क्रिया होती है और ऊपर वाली झिल्ली त्वक् है जिसके द्वारा स्पर्शसंवेदन और गति होती है। त्वक्वाली झिल्ली जिन घटको के योग से वनी रहती है उनके ऊपर वहुत सूक्ष्म रोइयाँ होती है जिनके सहारे ये कृमि पानी में तैरते है। इन कृमियो की कई जातियां जल मे मिलती हैं। ये द्विकलघट कृमि अपने जीवन भर उसी अवस्था मे रहते हैं जिस अवस्था मे कुछ काल तक मनुष्य आदि समस्त वहुघटक प्राणियो के भ्रूण आरंभ में रहते हैं। यह द्विकलघट रूप भ्रूण को कललघट अवस्था के उपरांत ही प्राप्त होता है। कललकोश की जो एकहरी झिल्ली होती है वह एक ओर पिचक कर नीचे की ओर धँस जाती है। आधी झिल्ली जब पिचक कर शेष आधी झिल्ली के भीतर जम जाती है तव कललकोश का आकार वदल कर दोहरी झिल्ली के एक कटोरे का सा हो जाता है जिसे हम द्विकलघट कह सकते

हैं। नीचे ऊपर जमी हुई दो झिल्लियों में से बाहरी झिल्ली (बाह्यकला) त्वक्कला है और भीतरी झिल्ली आशयकला है। कटोरे के आकार के द्विकलघट में जो खाली स्थान होता है वही पेट या जठराशय है और जो छिद्र होता है वही मुख है। बाहरी त्वक्कला ही संवेदन की एक मात्र इन्द्रिय है। इसी से क्रमशः उन्नति करते करते बड़े जीवों की ऊपरी त्वचा, इन्द्रियाँ तथा संवेदनसूत्र कार्यविभाग-क्रम द्वारा बने हैं। द्विकलघट जीवों में संवेदनवाहक सूत्र आदि नहीं होते. उनकी ऊपरी झिल्ली (बाह्यकला) के सारे घटक समान रूप से संवेदनग्राही और गतिशील होते हैं। उनमें तंतुजालगत आत्मा सब से आदिम या प्रारंभिक रूप में रहती है।

चिपटे केंचुओं में से कुछ की बनावट तो बिल्कुल घटकुसियों की सी होती है अर्थात् उनमें संवेदनसूत्र-विधान नहीं होता। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें एक लंबा संवेदनसूत्र और एक सूक्ष्म मस्तिष्कग्रंथि भी होती है। स्पंजों की बनावट सब से विलक्षण होती है। वे अधिकतर समुद्र के तल में पाए जाते हैं। सब से क्षुद्र कोटि के जो स्पंज होते हैं वे द्विकलघट के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। उन की झिल्ली में छलनी की तरह के बहुत से छेद होते हैं जिनमें होकर खाद्यमिश्रित जल भीतर जाता है। वे झांड या शाखा के रूप का समूहपिंड बना कर रहते हैं जिसके भीतर जल के लिए नालियाँ होती हैं। वे चर नहीं होते हैं। उनमें संवेदन और अंगगति बहुत ही मंद होती है। इसी से पहले लोग इन्हें उद्भिद् समझते थे।

जल के उद्भिदाकार कृमियो की यदि हम परीक्षा करें तो साफ दिखाई पड़ेगा कि किस प्रकार तंतुजालगत आत्मा से उन्नतिक्रम द्वारा संवेदनसूत्रगत आत्मा का विकाश होता है। मूँगा और छत्रक इसी प्रकार के कृमि है। एक प्रकार के कृमियो का समूहपिंड या छत्ता समुद्र और झीलो मे चट्टानो आदि पर जमा मिलता है जो देखने में खड़े पौधे की तरह जान पड़ता है। इन्हे खंडवीज * कहते है। छत्तेके प्रधान कांड में से जगह जगह पर छोटी छोटी शाखाएँ निकली होती है जो सिरे पर चौड़ी होकर गिलास के आकार की होती है। इसी गिलास के भीतर असली कृमि वंद रहते हैं, केवल उनकी सूत की तरह की भुजाएँ निकली होती है। कुछ शाखाओ के भीतर विशेष प्रकार के कुड्मल होते हैं। जव कोई कुड्मल अपनी पूरी वाढ़ को पहुँच जाता है तव एक स्वतंत्र जीव होकर कांड से अलग हो जाता है और चर जंतु के रूप मे इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रककृमि कहते हैं क्योंकि यह छाते के आकार का होता है। जिस अचर पिंड से इसकी उत्पत्ति होती है उससे यह विलकुल भिन्न होता है। अचर खंडवीज कृमियो मे संवेदनसूत्र और इन्द्रियाँ नही होतीं, उनमें संवेदन शरीरव्यापी होता है। पर छत्रक में संवेदनग्रंथियो और विशेष विशेष इन्द्रियों का कुछ विधान होता है। इसके प्रजनन का विधान भी ध्यान देने याग्य है। स्थावर खंडवीज कृमियो मे

---

* इनमें यह विशेषता होती है कि इनके शरीर के यदि कई खड कर डालें तो प्रत्येक खड वढ कर कृमि के रूप मे हो जायगा।

स्त्री पुं० विधान नहीं होता. कुड्मल-विधान होता है जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। पर उनसे जो छत्रककृमि उत्पन्न होते हैं उनमे स्त्री पुं० अलग अलग होते हैं। पुं० के शुक्र-कीटाणु जल मे छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा मादा के गर्भाशय मे जाकर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। ये गर्भ-कीटाणु शीघ्र डिंभकीट के रूप मे प्रवर्द्धित होकर कुछ दिनो तक जल मे तैरते फिरते हैं. पीछे किसी पौधे, लकड़ी के तख्ते आदि पर जम जाते है और धीरे धीरे बढ़ कर खंडवीज कृमि के रूप मे हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसी खडवीज कृमि से फिर छत्रककृमि की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खंडवीज कृमि से छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है और छत्रककृमि से खंडवीज कृमि की। प्रजनन के इस विधान को इतरेतरजन्म * या योन्यंतर विधान कहते हैं। इससे हम आत्मा की वर्गपरपराक्रम से वृद्धि अपनी आँखो के सामने देख सकते हैं। समूहपिंड बना कर रहनेवाले उद्भिदाकार कृमियों मे हमे दोहरी आत्मा दिखाई पड़ती है। एक तो समूहपिंड के कृमियों की पृथक पृथक् आत्मा, दूसरी सारे समूहपिंड की सामान्य आत्मसमष्टि।

(४) संवेदनसूत्रगत आत्मा या सूत्रात्मा—वर्गपरं-

---

* ऋग्वेद में लिखा है कि "अदितिर्दक्षो अजायत, दक्षाददिति-परि" अर्थात् अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए और दक्ष से अदिति। इसका यास्काचार्य्य ने इस प्रकार समाधान किया है "इतरेतर जन्मानो भवन्तीतरेतर प्रकृतयः"।

परानुगत आत्मविधान की यह चतुर्थावस्था है। मनुष्य आदि समुन्नत जीवों के मनोव्यापार एक विशेष यंत्र या करण के द्वारा होते हैं। इस करण के तीन मुख्य विभाग होते हैं—(क) वाह्यकरण या इन्द्रियां जिनसे संवेदन होता है, (ख) पेशियाँ जिनसे गति या संचालन होता है और (ग) संवेदनसूत्र † जो इन दोनो के वीच मस्तिष्क रूपी प्रधान करण के द्वारा संबंध स्थापित करते हैं। मनोव्यापारो का साधन करने वाले इस भीतरी यंत्र की उपमा तारयंत्र से दी जा सकती हैं। संवेदनसूत्र तार है, इन्द्रियां छोटे स्टेशन है और मस्तिष्क सदर स्टेशन है। गतिवाहक सूत्र संकल्परूपी आदेश को सूत्रकेंद्र या मस्तिष्क से पेशियो तक पहुँचाते है जिनके आकुंचन से अंगो में गति होती है। संवेदनवाहक सूत्र इंद्रियो के द्वारा प्राप्त संवेदनो को अंतर्मुख गति से मस्तिष्क या अंतःकरण मे पहुँचाते है। मस्तिष्क या अंत.करण रूपी मनोव्यापारकेंद्र ग्रंथिमय होता है। इन सूत्रग्रंथियो के घटक सजीव द्रव्य के सब से समुन्नत अंश हैं। इनके द्वारा इन्द्रियो और पेशियो के वीच व्यापारसंवंध तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त भावग्रहण, बोध और विवेचन आदि अनेक प्रकार के मनोव्यापार होते हैं।

अत्यंत क्षुद्र जीवो को छोड़ शेष सब जंतुओ मे मनोव्यापार का एक अलग करण होता है। छत्रककृमियो में मुँह के

---

† क्षुद्र कोटि के जीवो में साधारण ततुओं से अलग संवेदन सूत्र नहीं होते।

मेंडरे पर भेजे या संवेदनसूत्र बनानेवाली धातु का एक छल्ला सा होता है जिसमे थोड़े बहुत अंतर पर कई (प्रायः चार या आठ) कोशं या ग्रंथियां होती है। ये ग्रंथियाँ निकले हुए पैरों के सिरे पर होती हैं और वही काम देती हैं जो मस्तिष्क देता है। चिपटे केचुओ और जोक आदि कीड़ो में मुँह के उपर केवल दो सूत्रगांथियो का खड़ा मस्तिष्क होता है। इन ग्रंथियो से दो सूत्रशाखाएं त्वक् और पेशियो की ओर जाती हैं। शुक्ति-वर्ग के कोमलकाय कृमियो मे नीचे की ओर भी ग्रंथियाँ होती हैं जो ऊपरवाली ग्रंथियो से एक छल्ले के द्वारा जुड़ी होती हैं। इस प्रकार का छल्ला खडकाय (जिनका शरीर गुरियो से बना हो, जैसे कनखजूरा, मकड़ा, केकड़ा आदि) कीटो मे भी होता है पर वह पेट की ओर भेजे के दो सूत्रो के रूप मे दूर तक गया होता है। रीढ़वाले जंतुओ मे अंतःकरण की बनावट और ही प्रकार की होती है। उनमे पीठ की ओर भेजे की एक वत्ती प्रकट होती है जो अगले सिरे की ओर फैल कर घटस्वरूप मस्तिष्क का रूप धारण करती है।

उन्नत कोटि के सब जीवो के मस्तिष्क यद्यपि एक ही ढाँचे के नहीं होते पर भिन्न भिन्न जंतुओ के मस्तिष्को का मिलान करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उनकी उत्पत्ति एक ही मूल से अर्थात् चिपटे केचुओ और जोक आदि कीड़ों के (कवल दो ग्रंथियो से निर्मित) क्षुद्र मस्तिष्क से हुई है। मस्तिष्क या अंत.करण का स्फुरण गर्भकाल मे सब से ऊपरवाली झिल्ली मे होता है। सब जंतुओं के मस्तिष्क मे ग्रंथिघटक या मनोघटक होते हैं जिनके द्वारा चिंतन, बोध

आदि अनेक प्रकार के मनोव्यापार होते है। संवेदन सूत्रो के अतिरिक्त गति-सूत्र भी मस्तिष्क तक गए होते है जिनके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।

अंतःकरण का केंद्र मस्तिष्क है। रीढ़वाले जंतुओ मे इनकी परिस्थिति, रचना और योजना एक विशेष प्रकार की होती है। प्रत्येक जंतु के मस्तिष्क से भेजे की एक नली रीढ़ मे होती हुई पीठ के बीचोबीच नीचे की ओर गई होती है। इस नली की एक एक गुरिया से दोनो ओर संवेदनसूत्र और गतिसूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागो मे जाते है। भेजे की इस नली की उत्पत्ति मेरुदंड जीवो के भ्रूण मे एक ही ढंग से होती है। पीठ की त्वचा के बीचोबीच पहले भेजे की एक लकीर या नाली सी दिखाई पड़ती है। पीछे इस लकीर के दोनो किनारे कुछ कुछ उठने लगते हैं और धीरे धीरे मिल जाते है जिससे यह लकीर भेजे की एक पोली नली के आकार की हो जाती है।

भेजे की यह नली मेरुदंड जीवो की सब से बड़ी विशेषता है। इसी से काल पा कर भिन्न भिन्न करण उत्पन्न होते है जिनसे अनेक प्रकार के मनोव्यापार (ज्ञान, अनुभव, प्रेरणा आदि) होते हैं। मनुष्य मे यह नली या मेरुरज्जु अत्यंत पूर्ण अवस्था को प्राप्त होती है। इसकी गुरियो के दोनो ओर बहुत मे सूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागों मे जाते हैं जिनके द्वारा ज्ञानेंद्रियो का अनुभव और कर्मेंद्रियो का संचालन होता है। करोड़ो वर्षों मे अनेक मध्यवर्ती जंतुओ की आत्माओ से उन्नति करते करते मनुष्य की समुन्नत आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ है। सृष्टि के भिन्न भिन्न कल्पो मे जिन जिन अंत:करण-

विशिष्ट जंतुवर्गों का एक दूसरे से क्रमशः विकाश हुआ है मेरुरज्जु की क्रमोन्नति के विचार से मनुष्य तक उनके आठ वर्ग होते हैं—(१) अकरोटीमत्स्य, (२) चक्रमुखमत्स्य *, (३) मत्स्य, (४) जलस्थलचारी जंतु, (५) अजरायुज जतु, (६) आदिम जरायुज जंतु, (७) किंपुरुषवर्ग, (८) नराकार वनमानुस और मनुष्य।

मेरुरज्जुवाले जीवो मे सब से प्रथम अकरोटी मत्स्य उत्पन्न हुए जिनके वर्ग का केवल एक जंतु कुलाट आजतक समुद्र के किनारे मिलता है। इसके मनोव्यापार का करण एक सीधी सादी भेजे की नली है जिसमे मस्तिष्क नहीं होता। इसी से आगे चलकर चक्रमुख मत्स्यो की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के दो चार जंतु अब भी पाए जाते हैं। इनमे मेरुरज्जु का अगला छोर फैल कर एक घट के रूप मे हो जाता है जिसके पाँच विभाग हो जाते है—बड़ा मस्तिष्कघट, अंतरवर्त्ती मस्तिष्क-घट, मझला मस्तिष्कघट, छोटा मस्तिष्कघट और पिछला मस्तिष्कघट। इसी पंचघटात्मक मस्तिष्क से समस्त कपाल वाले जंतुओ के मस्तिष्क का विकाश हुआ है। साधारण मछ-लियो मे ये पाँचो घट अधिक स्पष्ट होते है। मछलियो से फिर जलस्थलचारी जंतुओं की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के मेढक

---

* बाम की तरह की एक छोटी मछली जिसके मुख का विवर गोल होता है। इसके मुँह में नीचे ऊपर के जबड़े नहीं होते, महीन महीन दाँत चारो ओर होते हैं जिनके द्वारा यह चट्टानों या बड़ी मछ-लियों के शरीर पर चिमटी रहती है।

आदि जतु अब भी पाए जाते है। इनसे आगे चल कर जीवो के जो तीन वर्ग एक दूसरे के पीछे उत्पन्न हुए वे दूध पिलाने वाले जतुओं के है। दूध पिलानेवाले जीवो के मस्तिष्क मे दूसरे रीढवाले जतुओं के मस्तिष्क से कई वातो की विशेपता होती है। सब से प्रधान विशेपता तो यह है कि उसमे प्रथम और चतुर्थ पट की वहुत अधिक वृद्धि होती है और तृतीय या मझला पट विलकुल नही होता। सब से आदिम वर्ग के स्तन्य (अण्डजस्तन्य, अजरायुज स्तन्य) जीवो का मस्तिष्क जलस्थलचारी जीवो के मस्तिष्क से मिलता जुलता होता है पर उनमे जो उन्नत कोटि के स्तन्य जीव उत्पन्न हुए उनके मस्तिष्क मे प्रथमपट की वहुत अधिक वृद्धि हुई। मनुष्य के मस्तिष्क मे यह पट सब से वड़ा और दूर तक लोथड़े की तरह फैला है*। इसी मे सकल्प, विचार आदि उन्नतकोटि के व्यापार होते हैं। इस प्रकार का मस्तिष्क मनुष्य के अतिरिक्त केवल नराकार वनमानुसो ही का होता है।

अस्तु, यह वात पूर्णरूप से सिद्ध है कि मनुष्य की आत्मा निम्नकोटि के स्तन्य जीवो से क्रमशः उन्नति करते करते उत्पन्न हुई है।

---

* इसमे अखरोट के गूदे की तरह उभार होते है।

दसवाँ प्रकरण।

चेतना।

आत्मा या मन के व्यापारो मे से चेतना से वढ़कर विलक्षण और कोई व्यापार नहीं। इसके संवंध मे जिस प्रकार भिन्न भिन्न मत दो हजार वर्ष पहले प्रचलित थे उसी प्रकार अव भी। इसी को देखकर आत्मा के अमर और भूतो से परे होने की कल्पना लोगो को सूझी है। यही एक ऐसा रहस्य है जिसके वल पर आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी अनेक प्रकार के अंधविश्वास ग्रहण किए हुए है। अत' तात्त्विक दृष्टि से चेतना का विचार परम आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करेगे तो देखेगे कि और दूसरे मनोव्यापारो के समान चेतना भी एक प्राकृतिक गुण है तथा शरीर और अंतःकरण की अन्य वृत्तियो के समान एक प्राकृतिक व्यापार है अर्थात् प्रकृति के नियमो के सर्वथा अधीन है।

चेतना के स्वरूप और लक्षण तक के विषय मे दार्शनिको का एकमत नहीं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। पर सव से उपयुक्त परिभाषा उन दार्शनिकों की प्रतीत होती है जो चेतना को एक प्रकार की अंतर्दृष्टि कहते हैं और उसकी उपमा दर्पण की क्रिया से देते हैं। चेतना दो प्रकार की होती है—एक अंतर्मुख, दूसरी वहिर्मुख। अंतर्मुख चेतना को अहंकार भी कहते हैं। अहंकार वृत्ति के द्वारा अंतःकरण अपनी

ही क्रिया का निरीक्षण, अपनी ही अवस्था का बोध करता है। बहिर्मुख चेतना के द्वारा अंतःकरण को बाह्य जगत् का बोध होता है। हमारी अधिकांश चेतना बाह्यजगत्संबंधी होती है। अंतर्मुख चेतना का क्षेत्र संकुचित होता है। उसमें हमारे इंद्रियानुभव, संस्कार, और संकल्प प्रतिबिंबित होते हैं।

बहुत से तत्त्वज्ञो की धारणा है कि 'चेतना' और 'मनोव्यापार' परस्पर पर्य्याय शब्द है अर्थात् जितने मनोव्यापार होते हैं सब चेतन होते है। पर यह धारणा ठीक नही। जैसा मै पहले दिखा चुका हूँ अधिकतर अंत.क्रियाएँ या मनोव्यापार ऐसे होते हैं जिनकी हमे कुछ भी खबर नही रहती। हमारी इंद्रियो के साथ विषय का संपर्क होता है, अंतःसंस्कार अंकित होकर पेशियो मे गति उत्पन्न करते हैं पर हम कुछ भी नही जानते। चेतन अंतःसंस्कार जिनके द्वारा ज्ञानकृत व्यापार होते है और अचेतन अंतःसंस्कार जिनके द्वारा अज्ञानकृत व्यापार होते है, दोनो अंतःकरण या मन ही के व्यापार है।

चेतना का परिज्ञान हमे चेतना ही के द्वारा हो सकता है। उसकी वैज्ञानिक परीक्षा मे यही बड़ी भारी अडचन है। परीक्षक भी वही, परीक्ष्य भी वही। द्रष्टा अपना ही प्रतिबिंब अपनी अंतःप्रकृति मे डाल कर निरीक्षण मे प्रवृत्त होता है। अतः हमे दूसरो की चेतना का परीक्षात्मक बोध पूरा पूरा कभी नही हो सकता। हमे उनकी चेतना का अपनी चेतना से मिलान करते हुए चलना पड़ता है। यदि यह मिलान सामान्य मस्तिष्क के मनुष्यो ही तक रक्खा जाय तब तो हम कुछ थोड़े बहुत सिद्धांत उनकी चेतना के संबंध मे निश्चय

के साथ स्थिर कर सकते हैं। पर यदि हम असामान्य मस्तिष्क के मनुष्यो (जैसे प्रतिभाशाली, सनकी, जड़ या विक्षिप्त लोगो) को लेकर बिचार करने जाते है तो हमारे सिद्धांत या तो अपूर्ण या सर्वथा भ्रांत निकलते है। यही बात मनुष्यो की चेतना को जंतुओ (विशेषत. क्षुद्र जंतुओ) की चेतना के साथ मिलाने से होती है। ऐसा करने मे इतनी भारी कठिनाइयाँ सामने आती है कि चेतना के संबंध मे भिन्न भिन्न शरीरविज्ञानियो और दार्शनिको के मतो मे आकाश पाताल का अंतर पड जाता है। मुख्य मुख्य मतो का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) चेतना केवल मनुष्य ही में होती है। इस सिद्धात का प्रवर्त्तक फरासीसी तत्ववेत्ता डेकार्ट है जिसके अनुसार विचार और चेतना मनुष्य ही के गुण है और अमर आत्मा केवल मनुष्य ही मे होती है। इस तत्ववेत्ता ने मनुष्य के व्यापार और पशु के मनोव्यापार मे भेद किया है। इसके मत मे मनुष्य की आत्मा एक विचार करने वाली अभौतिक सत्ता है जो भौतिक शरीर से सर्वथा पृथक है। पर पृथक् होते हुए भी वह मस्तिष्क के एक विशिष्ट अंश के साथ लगी रहती है जिसमे वह वाह्यजगत् के विपयो को संस्कार के रूप मे ग्रहण करे और कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त करे। पशुओं मे विचार करने की शक्ति नहीं होती, आत्मा नहीं होती। वे कौशल के साथ बैठाए हुए पुरजो की मशीन की तरह है। उनके इंद्रियसंवेदन, अंत:संस्कार और प्रवृत्ति जड़ व्यापार मात्र है जो भौतिक नियमो के अनुसार होते है।

अस्तु, डेकार्ट मनुष्य के संबंध मे तो द्वैतवादी था, पर पशुओ के संबध मे अद्वैतवादी। मनुष्यो के संबंध मे तो वह शरीर और आत्मा को दो पृथक वस्तुएँ मानता था पर पशुओ के संबंध मे दोनों को एक ही मानता था। डेकार्ट के इस दोरंगे सिद्धांत का फल यह हुआ कि सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के भूतवादी तो मनोव्यापारो को भौतिक क्रिया मात्र सिद्ध करने के लिए उसकी पशुसंबंधी विवेचना का सहारा लेने लगे और अध्यात्मवादी लोग उसके मनुष्यसंबंधी विवेचन को आगे कर के आत्मा का अमरत्व और शरीर से उसका पृथक्त्व सिद्ध बतलाने लगे। पर मनुष्य की आत्मा के संबंध मे डेकार्ट का यह विवेचन १९ वीं शताब्दी क गंभीर और सूक्ष्म अनुसंधानो से सर्वथा भ्रांत सिद्ध हुआ।

(२) चेतना संवेदनसूत्रवाले जीवों ही में होती है—मनुष्य तथा और उन्नत जीवो ही मे चेतना होती है जिन्हे केंद्रीभूत सवेदनसूत्रविधान अर्थात् विज्ञानमय कोश होता है। यही सिद्धांत आजकल जतुविज्ञान, शरीरविज्ञान, और अद्वैत मनोविज्ञान मे माना जाता है। प्राणिविज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओ मे जो अपूर्व उन्नति हुई है उससे इसी सिद्धांत का समर्थन होता है। हजारो वर्ष से लोग देखते आते है कि बंदर, कुत्ते आदि जो उन्नत कोटि के पशु हैं उनकी बुद्धि बहुत सी बातो मे मनुष्य की बुद्धि से मिलती जुलती होती है। उनके इंद्रियसंवेदन, अंत:संस्कार, सुखदु:ख आदि का अनुभव, इच्छा, द्वेष आदि मनोव्यापार बहुत कुछ मनुष्यो के से होते हैं। यहाँतक

कि इतना सब होने पर भी यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उन्नतिक्रम के अनुसार जीवों की वर्गपरंपरा मे किस विशेष वर्ग से चेतना का प्रादुर्भाव होता है। मुझे तो इसी सिद्धांत के सत्य होने की संभावना अधिक प्रतीत होती है जिसके अनुसार चेतना संवेदनसूत्रो के केंद्रीभूत होने पर उत्पन्न होती है। छोटे जीवों मे संवेदनसूत्र एक स्थान पर केन्द्रीभूत नहीं होते, उनमे पूर्ण विज्ञानमय कोश नहीं होता। जिन जीवो मे संवेदन सूत्रों का केन्द्ररूप अवयव या अंतःकरण होता है, उन्नत ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं अर्थात् जिनमे विज्ञानमय कोश होता है उन्हीं मे चेतना होती है।

(३) चेतना सब प्राणियों में होती है। छोटे बड़े जितने जीव हैं सब चेतन होते है। यह सिद्धांत उद्भिदों और जंतुओं के आंतरिक व्यापारो मे भेद करता है। प्राचीनो का भी यही विश्वास था कि जंतुओमे इन्द्रियानुभव और चेतना होती है, पर पौधो मे नहीं। पर १९ वी शताब्दी के मध्यभाग मे जब स्पंज आदि क्षुद्र जंतुओं की आंतरिक क्रियाओं की परीक्षा की गई तब इस विश्वास की असारता प्रकट होगई। स्पंज आदिकों के स्थावर जंतु होने मे तो कोई संदेह नहीं, पर उनमें चेतना का कोई आभास उसी प्रकार नहीं पाया जाता जिस प्रकार पौधो मे। एक-घटक अणुजीवो की जब सूक्ष्म परीक्षा की गई तब उनकी और एकघटक अणूद्भिदों की आंतरिक क्रियाओं मे कोई विशेष अंतर नहीं पाया गया।

(४) चेतना सब शरीरियों में होती है, क्या

उद्भिद् तथा जंतु। इस मत के अनुसार जीव जंतु, पेड़ पौधे सब चेतन है, पर मिट्टी के ढेले आदि निर्जीव पदार्थों मे चेतना नहीं होती। इस सिद्धांत का यह भाव भी निकलता है कि सब देहवान् (उद्भिद् और जंतु) पदार्थों मे आत्मा होती है। इस मत को माननेवाले प्राण, चेतना और आत्मा को परस्पर सहगामी समझते है। उनकी समझ मे जहाँ एक रहेगा वहाँ दूसरा भी अवश्य रहेगा। फेक्नर नामक तत्त्ववेत्ता ने यह सिद्ध करने तक का प्रयत्न किया है कि पौधो मे भी उसी प्रकार आत्मा होती है जिस प्रकार जंतु में, और पौधे की आत्मा में भी उसी प्रकार चेतना होती है जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा मे। बात यह है कि जब क्षुद्र जंतुओ की अंतः-क्रियाओं को चेतना कह सकते हैं तब पौधो की अंतःक्रियाओं को चेतना कहना ही पड़ेगा। लजालू, मक्खी पकड़नेवाले पौधे आदि की गतिविधि अत्यंत क्षुद्र जंतुओ की गतिविधि के समान ही होती है।

(५) चेतना प्रत्येक घटक में होती है। जिस प्रकार हम सजीव घटक को अनेकघटक जंतुओं और पौधों के शरीर के मूल अणु मानते हैं, जिनके संयोग से उनके शरीर संघटित हैं, उसी प्रकार हम घटकात्मा (घटक की अंतः-क्रिया) को भी शरीर की आत्मा (अर्थात् उसके उन्नत मनो-व्यापारों की समष्टि) की व्यष्टि मान सकते हैं। हम कह सकते हैं कि चेतना, धारणा आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापार सूक्ष्म घटकों की क्षुद्र अंतःक्रियाओं के योगफल हैं। मैंने समुद्री अणुजीवो की परीक्षा कर के दिखलाया था कि उन मे भी उन्नत

जंतुओं से मिलती जुलती इंद्रियसंवेदना, प्रवृत्ति और गति आदि होती है। अतः यदि हम समस्त शरीरियों में चेतना माननेवालों की बात मानें तो शरीर को संघटित करनेवाले अणुरूप घटकों में भी चेतना का कुछ अंश हमें मानना पड़ेगा। पहले मैं भी ऐसा ही मानता था, पर अब विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अणुजीवों में आत्मबोध नहीं होता, उनके इंद्रिय संवेदन और अंगसंचालन आदि अचेतन अर्थात अज्ञानकृत होते हैं।

(६) चेतना द्रव्य के परमाणु मात्र में होती है। इस सिद्धांत ने चेतना को सब से आगे बढ़ाया है, इसकी दौड़ सब से लंबी है। इसे माननेवाले यह समस्या हल करने से बच जाते हैं कि चेतना की उत्पत्ति कब और कहाँ से होती है। अंत:करण की यह वृत्ति ऐसी विलक्षण है कि इसे किसी और वृत्ति से उत्पन्न बतलाना अत्यंत कठिन है। अतः इस कठिनता से बचने का सीधा रास्ता यही दिखाई पड़ा कि चेतना द्रव्य मात्र का एक वैसा ही अंतर्व्याप्त गुण मान ली जाय जैसे कि आकर्षण, रासायनिक प्रवृत्ति आदि हैं। ऐसा मानने पर हमें मूलचेतना उतने प्रकार की माननी पड़ती है जितने रासायनिक मूल द्रव्य * (आक्सिजन, कारबन आदि) होते हैं।

---

* मूलद्रव्य वे हैं जिनमें विश्लेषण करने पर और किसी द्रव्य का योग नहीं पाया जाता। अब तक ऐसे ७७ या ७८ तत्वों का पता लगा है। इनके सब से सूक्ष्म टुकड़ों को परमाणु कहते हैं क्योंकि पहले

'यह सब गड़बड़ चेतना का लक्षण निर्दिष्ट न करने के कारण होता है। मेरे मत मे तो चेतना मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के मनोव्यापारों या 'अंतःक्रियाओं' का एक अंश मात्र है, अधिकतर अंतःक्रियाएँ (मनोव्यापार) अचेतन होती हैं अर्थात् वे होती हैं पर हमे उनकी खबर नही होती।

चेतना की उत्पत्ति और लक्षण के संबंध मे चाहे जितने मतभेद हों पर उसके विषय मे दो सिद्धांत मुख्य हैं--एक 'अतीतवाद' दूसरा शरीरधर्मवाद। अतीतवाद चेतना को शरीर या भूतो से अतीत वस्तु (आत्मा) का धर्म मानता है और शरीरधर्मवाद शरीर ही का धर्म मानता है। मै इसी दूसरे सिद्धांत को सत्य मानता हूँ।' मै चेतना को शरीर ही का एक धर्म मानता हूँ जो भौतिक और रासायनिक नियमो के अधीन है, उन से परे नहीं। मै उसे संवदनसूत्रो ही की एक विशेषता मानता हूँ जो उनके केंद्रीभूत होने पर उत्पन्न होती है। संवेदनसूत्रो का केंद्ररूप अवयव (अंतःकरण) और उन्नतिक्रम द्वारा पूर्णताप्राप्त ज्ञानेन्द्रिय-विधान विशेष करके जरायुज जंतुओ ही मे होता है। बनमानुस, कुत्ते,

---

लोग समझते थे कि उनका और विभाग नहीं हो सकता। पर कुछ नए मूल द्रव्य मिले जिनके परमाणु और भी सूक्ष्म अणुओं के योग से बने पाए गए जिन्हें विद्युदणु (Election) कहते है। पहले लोग जल, वायु आदि को मूल भूत समझते थे, पर वे कई मूल भूतो के योग से संघटित द्रव्य है। उनके सयोजक मूलद्रव्य रासायनिक विश्लेषण द्वारा अलग अलग किए जा सकते है।

हाथी आदि की चेतना मे और मनुष्य की चेतना में केवल न्यूनाधिक का भेद है, कोई वस्तुभेद नहीं। इन पशुओं की चेतना और मनुष्य की चेतना मे उससे अधिक अंतर नहीं होता जितना अत्यंत असभ्य जंगली मनुष्यो की चेतना और सभ्य जाति के दार्शनिको और तत्त्वचिंतकों की चेतना मे। अस्तु, चेतना मन की समुन्नत क्रिया ही का एक अंग है और मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र आदि की सहायता से मस्तिष्क का जो वैज्ञानिक अन्वीक्षण किया गया उससे पता लगा कि चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क के भूरे मज्जापटल का एक विशेष भाग है। इस क्षेत्र मे बड़ा भारी काम फ्लेशजिक नामक एक जरमन वैज्ञानिक ने किया जिसने मस्तिष्क के भीतर चिंतन करने के अवयवो का पता लगाया। उसने सिद्ध किया कि मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र में इंद्रियानुभव के केंद्ररूप चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक है जो इंद्रिय-संवेदनो को ग्रहण करते है—स्पर्शज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े मे घ्राण का सामने के लोथड़े में, दृष्टि का पिछले लोथड़े मे और श्रवण का कनपटी के लोथड़े मे रहता है। इन चारो भीतरी इंद्रियगोलको के बीच में चार विचारगोलक है जिनके द्वारा भावो की योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं। ये ही गोलक चेतना और विचार के करण अर्थात् प्रधान अंतःकरण है। फ्लेशज़िग ने दिखलाया है कि मनुष्य के मास्तिष्क के इन गोलकों के कुछ अंशों मे विशेष प्रकार की रचनाएँ होती हैं

जो और दूसरे दूधपिलानेवाले जीवो मे नही होतीं। इन्हीं विशेषताओ के कारण मनुष्य मानसिक शक्तियो मे सब प्राणियो से बढ़ा चढ़ा है।

आधुनिक शरीरविज्ञान की इन बातो का समर्थन चिकित्साशास्त्र के अनुसंधानो द्वारा भी होता है। जब रोग के कारण मस्तिष्क का कोई भाग नष्ट हो जाता है तब उस भाग के द्वारा होनेवाला मानसिक व्यापार भी शिथिल या नष्ट होजाता है। इस बात से हम मन या अंत करण की भिन्न भिन्न वृत्तियो के स्थान बहुत कुछ निर्दिष्ट कर सकते है। अंत करण की किसी विशेष वृत्ति का स्थान यदि रुग्ण हो जाता है तो साथही वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती, जैसे मस्तिष्क के भीतर वाणी का जो केद्र है यदि वह नष्ट होजाय तो आदमी गूगा हो जायगा। इस बात का प्रमाण तो हम नित्य ही पाते हैं कि मस्तिष्क के द्रव्य मे किसी प्रकार का रासायनिक परिवर्त्तन उपस्थित होने पर चेतना पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है। कुछ पीने की चीजे (जैसे चाय और कहवा) ऐसी है जिनसे हमारी विचारशक्ति कुछ उत्तेजित होती है, कुछ ऐसी हैं (जैसे मद्य, भांग) जिनसे हमारे मनोवेग उत्तेजित होते हैं। कपूर और कस्तूरी से मूर्छा या वेहोशी दूर होती है, ईथर और क्लोरोफार्म बेहोशी लाता है। यदि चेतना मस्तिष्क के अवयवो से सर्वथा स्वतंत्र कोई अभौतिक सत्ता होती तो ऐसा कैसे होता? जब मस्तिष्क के अवयव काम के नहीं रहते तब "अमर आत्मा" की चेतना क्या होती है?

इन सब बातो से सिद्ध होता है कि मनुष्य तथा और

स्तन्य जीवों की चेतना परिणामी है—उसमे भीतरी (जैसे रक्त का चढ़ाव उतार) और बाहरी कारणो (जैसे आघात, उत्तेजन) से फेरफार हो सकता है। बहुत सी बीमारियाँ ऐसी होती है जिनमे अंत:संस्कारो (अंत:करण मे उपस्थित प्रतिबिंबो) के उलटफेर से मनुष्य की चेतना दो चार दिन एक प्रकार की रहती है, दो चार दिन दूसरे प्रकार की—दो चार दिन वह अपने को कुछ और समझता है, दो चार दिन कुछ और।

प्राय: सब लोग देखते है कि तुरंत के उत्पन्न बच्चे मे चेतना नहीं होती *। प्रेयर नामक शरीरविज्ञानी ने दिखलाया है कि चेतना बच्चे मे उस समय स्फुरित होती है जब वह बोलना आरंभ करता है। बहुत दिनों तक वह अपने लिए किसी सर्वनाम आदि शब्द का प्रयोग नहीं करता। जिस घड़ी वह "मै" शब्द का उच्चारण करता है और उसमे अहंकार वृत्ति स्पष्ट होती है उसी घड़ी से उसमे आत्मचेतना का आरंभ समझना चाहिए। दस वर्ष की अवस्था तक उसके ज्ञान की वृद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है; उसके पीछे वृद्धि की गति कुछ मद होती है। ज्ञान-वृद्धि की यह गति चेतना और उसके करण मस्तिष्क की वृद्धि के अनुसार होती है। पूर्णवयस्क होते ही मनुष्य की चेतना पूर्णता को नहीं पहुँच जाती; वह ससार के अनेक रूप के व्यवहारो द्वारा, समाज के संसर्ग

---

* छादोग्योपनिषद् में बच्चों में मन का अभाव माना गया है। "यथा बाला अमनस: प्राणन्त: प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्श्चक्षुषा, शृण्वन्त: श्रोत्रेणैवमिति"। प्रपाठक ५ खड १

द्वारा, परिपक्व होती है। बीस वर्ष की अवस्था के उपरांत तीस वर्ष की अवस्था के भीतर ही भीतर उसके विचार परिपक्व हो जाते हैं और साठ वर्ष की अवस्था तक पूरा काम देते हैं। साठ वर्ष की अवस्था के उपरांत जरावस्था के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, धीरे धीरे मानसिक शक्तियों का ह्रास होने लगता है, स्मरणशक्ति, ग्रहणशक्ति, विशेष विशेष वस्तुओं की और प्रवृत्ति क्षीण होने लगती है—हां, उद्भावना की शक्ति, चेतना की परिपक्वता और दार्शनिक सिद्धांत-तत्त्वो की ओर अभिरुचि कुछ दिनो तक और बनी रहती है।

मनुष्य ने चेतना की जो उच्च अवस्था प्राप्त की है वह भी क्रम क्रम करके। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यो त्यों उसकी चेतना भी उन्नत होती गई। यह बात जंगली जातियो की ओर ध्यान देने से, उनकी भाषाओ का मिलान करने से, स्पष्ट हो जाती है। भावग्रहण की शक्ति ज्यो ज्यो मनुष्यो मे बढ़ती जाती है त्यो त्यो वे सामने आनेवाले अनेकानेक विशेष पदार्थों के बीच सामान्य लक्षणो को ढूंढ़ निकालने और उन्हें सामान्य प्रत्ययो (भावनाओं) के रूप मे ग्रहण करने मे समर्थ होते जाते है। इस प्रकार उनकी चेतना गूढ़ होती जाती है*।

* जैसे गाय, भैंस, बकरी, हिरन, इत्यादि बहुत से विशेष जानवरों को देख मनुष्य सींग को सामान्य लक्षण पकर 'सींगवाले जन्तु' की एक सामान्य भावना धारण करता है।

Printed by G K Gurjar at Sri Lakshmi
Narayan Press, Benares City.

मनोरंजन पुस्तकमाला ।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं ।

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्मा ।
(५) ,, २ ,, ,,
(६) ,, ३ ,, ,,
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा ।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी ए
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक सपूर्णानंद बी. एस-सी., एल.टी
(११) लालचीन—लेखक वृजनंदन सहाय ।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी ए ।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्मा ।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम. ए और शुकदेव बिहारी मिश्र बी. ए ।